प्रकाशितग्रन्थसंया—१४०.

प्रेमावतार--

श्रीमन्महाप्रभुकृष्णचैतन्यदेव-विरचित—

❀ प्रेमामृतरसायनस्तोत्रम् ❀

श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितविवरण-समेतम् ।

कुसुमसरोवरनिवासिना कृष्णदासस्य टीकानुवादेन सुपरिष्कृमम्

अर्थसहायक---
श्रीमान्लक्ष्मीनारायनजीवैद्य
(व्रन्दावन)

सम्बत्—२०२४.
न्योछावर—रु० १.

प्रकाशक—
कृष्णदासबाबा

मुद्रक:—गौरहरिप्रेस, कुसुमसरोवर,।(गवालियरमन्दिर)
[राधाकुण्ड मथुरा]

संशोधकसंस्करणं दासाभासेन हरिपार्षददासेन कृतम्

❀ दो शब्द ❀

आज करुणावरुणालय, प्रेमावतार, नाम-संकीर्त्तन के पिता, राधा-कृष्ण मिलितविग्रह, जगन्नियन्ता, जगदाधार महाप्रभु श्री-कृष्णचैतन्यदेव के मुखकमल विनिर्गत यह "प्रेमामृतरसायनस्तोत्र" श्रीवल्लभाचार्य्यचरणमहोदय के पुत्र श्रीपाद विट्ठलेशचरण के द्वारा विरचित "प्रेमामृतविवरण" नामक टीका तथा मत्कर्त्तृक अक्षरशः टीका का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित होकर प्रेमीसज्जनों के समक्ष उपस्थित हो रहा है। बहुत दिनों से इच्छा थी कि यह स्तोत्र श्रीविट्ठलेशजी की टीका के तथा हिन्दीभाषानुवाद के साथ प्रकाशित हो, परन्तु यह स्तोत्र श्रीविट्ठलेशजी की टीका के साथ मणीलाल इच्छाराम देशाई गुजराती-पत्रिका आफिस बम्बई में तथा मूलचन्दतुलसीदास तेलीवाला तथा धैर्यलालव्रजदास संकलीया के द्वारा सम्बत् १९७५ में श्रीमद्विट्ठलेशविरचितविवरण के साथ बम्बई से प्रकाशित हुआ है जानकर मुद्रणकार्य से विरत रहा और अतिशय चेष्टा के द्वारा दूसरी पुस्तक की एक प्रति प्राप्त की। संस्कृत अनभिज्ञ साधारण जनता के लिये वह संकलन दुर्गम था। अतः मैं हिन्दी अनुवाद के साथ इस के पुनः प्रकाशन में यत्नवान हुआ। गुजरातीपत्रिका आफिस बम्बई वाली प्रति मेरे देखने में नहीं आई। जो भी कुछ हो मूलचन्दतुलसीदास तेलीवाला तथा धैयलाल व्रजदास सांकलीया वाली प्रति का अवलम्बन कर इस के प्रकाशन में समर्थ हुआ। इन दोनों महानुभावों ने इस प्रति को प्रस्थावना मुख में विस्तृत विवेचन कर विशेष प्रभाव डाला है।

इन्होंने भी इस स्तोत्र को श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभु विरचित माना है। वह प्रस्तावना देवाक्षर में मुद्रित हुई है अवश्य परन्तु गुजराती भाषा में लिखी गई है। हम यहाँ पर उस के उस अंश का अक्षरतः हिन्दी अनुवाद दे रहे हैं—

"इस ग्रंथ में प्रेमामृत का सुविस्तृत प्रकाशन किया हुआ है। इस ग्रन्थ का नाम प्रेमामृत वा कृष्णप्रेमामृत है। ग्रंथरत्न के ऊपर श्रीमद् विट्ठलेश्वर प्रभुचरण श्रीगोसांईजीने बहुत सुन्दर विवरण लिखा है। उस विवरण के साथ "प्रेमामृत" यहाँ प्रकाशित किया है। इस प्रेमामृत-ग्रंथ में मुख्य श्रीस्वामिनी श्रीराधिकाजी ने अपने प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रजी के विषय में विरहावस्था में जो जो गीत गाये थे उनका ही संग्रह किया हुआ है। सांप्रदायिक गाथा यह है कि यह नामावली श्रीगिरिराजजी की शिला के ऊपर खुदाई की हुई थी। इन्हीं नामों का संग्रह श्रीगुसांई विट्ठलेश्वरजी ने किया और आप श्री ने इसमें प्रकाशित हुई सुन्दर टीका भी साथ में लगवाई। श्रीप्रेमामृत-ग्रंथ का प्रचार श्रीगौडीयवैष्णवसंप्रदाय में भी होना चाहिये। संबत १७२७ वैशाख शुक्ला दशमी मङ्गलवार के दिन बलिराम नामक सज्जन द्वारा लिखित यह ग्रंथ हमें प्राप्त हुआ है, इसमें इति श्री इस प्रकार है-"इति श्रीजगज्जीवनानन्द चन्द्र-श्री कृष्णचैतन्यचन्द्रमुखपद्मविनिर्गते श्रीगोपीनायकनाथामृतलहरी संपूर्णा।" अर्थात् इस प्रेमामृत ग्रंथ का यह श्री इति रीति से नाम श्रीगोपीनायकनाथामृतलहरी है, और उसका प्राकट्य श्रीकृष्ण-चैतन्यचन्द्र के मुखपद्म द्वारा हुआ है। श्रीमत्प्रभुचरण "राधा-गीतानि नामानि" इतना ही कहकर ग्रंथ के कर्तृत्व संबन्ध में मौन रहते हैं, और "इत्याह" ऐसा ग्रंथकार के लिये एक वचन लिखते हैं, इसलिये यह श्रीमदाचार्य श्रीवल्लभाधीश्वर की कृति होना संभव नहीं है। आचार्य श्री जिन ग्रंथ का रचयिता-कर्ता

होते हैं उनको टीका लिखते समय श्रीगोसांईजी वगैरह सर्वथा बहुवचन प्रयोग करते हैं। इस प्रकार इस ग्रंथ के कर्तृत्व संबन्ध में सन्देह है। गौडीयवैष्णवसंप्रदाय में श्रीकृष्ण से भी श्रीस्वामिनीजी का प्राधान्य अधिक माना जाता है, इसलिये सामान्य रीति से श्रीस्वामिनीजी के नामों का गान श्रीप्रभु करें ऐसी उस सम्प्रदाय की मान्यता है। यह ग्रंथ परम रमणीय है और श्रीगोसांईजी की टीका द्वारा इस ग्रंथ की पुष्टी होने से उसकी रमणीयता में भगवदीयता में और भी वृद्धि हुई है। इसके पाठ करने में भाग्यवान संसारासक्तिरहित प्रभु प्रेम में मुग्ध भगवदीय जनों को ही अधिकार है।''

''कैसे भी हो परन्तु यह ग्रंथ श्रीवल्लभाचार्यकृत तो नहीं है। कारण यह है कि, इस ग्रंथ में श्रीराधिकाजी के नाम की प्रायः प्रधानता है। श्रीमदाचार्यचरण के ग्रंथों में राधा नाम का प्रयोग दिखता नहीं है, परन्तु जब प्रसंग आता है तब तब शास्त्रीय मुख्य शक्ति, वा मुख्य स्वामिनी वा लक्ष्मी इत्यादि शब्द लिखते हैं। इसी कारण से भी इस ग्रंथ का रचयिता श्रीमदाचार्यजी होने के बारे में संदेह होता है।''

''श्रीमत्प्रभुचरण श्रीगुसांईजी का श्रीजयदेव के अष्टपदी गीतगोविन्द पर तथा रामानुजीय वेदान्ताचार्य न्यासादेश पर विवरण प्रसिद्ध है। वेसे उन्होंने यदि किसी प्रकार श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के इस स्तोत्र की स्वाभाविक सुन्दरता में आकर विवरण लिखा है तो उस में असम्भव क्या है। जो भी हो यह ग्रन्थ परम रमणीय है, जिसको श्रीगुसांईजी ने विवरण के द्वारा इसको पुष्ट किया है।'' उन्होंने और भी कहा है—''इस श्रीप्रेमामृतकी छपवाई हमने निम्नलिखित चार पुस्तकों के आधार से किया है। १. यह पुस्तक डाहोलक्ष्मी पुस्तकालयस्थ शास्त्री भाईलाल के संग्रह से रा. रा. तनसुख-

राम मनसुखराम की कृपा से प्राप्त हुआ । यह पुस्तक बड़ा सुन्दर प्राचीन तथा प्रायः शुद्ध है, परन्तु कई पंक्तियों में त्रुटि मालुम पड़ती है। २. यह पुस्तक पण्डित गट्टुलाल के संग्रह से । यह भी प्रायः शुद्ध है। इसमें पहला पृष्ठ नहीं है। ३. यह पुस्तक भगवद्धर्मपरायणशास्त्री कल्याणदास ने दिया है । यह पुस्तक प्राचीन तथा प्रायः शुद्ध है। ४. यह पुस्तक भगवद्धर्मपरायण मनमोहनदास दलपतराम दलाल, बी. ए. ने हमें दी थी। यह पुस्तक नूतन है। मनमोहनदास भाई ने अपने स्वाध्याय के लिये संशोधित करके अपने हस्त से लिखी है। इस पुस्तक की प्रेस कापी नटपुरस्थ चन्दुलाल चुनीलाल शाह ने बनवा कर दी थी। इन सभी का हम उपकार मानते हैं।"

बम्बई
पवित्रका एकादशी
१९७५

मूलचन्द्र तेलीवाला
धैर्यलाल सांकलिया

निःसन्देह यह प्रेमामृतरसायन स्तोत्र श्रीमन्महाप्रभु श्रीगौरांगदेव के मुखपद्म से विनिर्गत हुआ था। सर्वत्र प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में श्रीकृष्णचैतन्यदेव महाप्रभु के नाम से यह देखने में आ रहा है—

उदाहरण रूप में—

(१) काशीसरस्वतीविद्यापीठ—नं० ६४६ (१३) प्रेमामृतस्तोत्र। इति श्रीकृष्णचैतन्यमुखपद्मविनिसृतं निजप्रेमामृतं स्तोत्रं सम्पूर्णम्।

(२) वराहनगर-श्रीभागवताचार्य पाटवाड़ी, ग्रन्थागार (कलिकत्ता) नं० ४७ महाप्रभुकृतं—

(३) काशी नागरीप्रचारिणीसभा—नं० १७। २। कृष्णचैतन्य-देव विरचित प्रेमामृतस्तोत्रम् ॥

(४) वृन्दावन, राधारमणजीमन्दिरघेरा गोस्वामिश्रीमधुसूदन-सार्वभौम के ग्रन्थागार—

"निजप्रेमामृतस्तोत्र-श्रीकृष्णचैतन्यदेवमुखपद्मविनिर्गतं"—इसमें श्रीवल्लभाचार्यजी के आत्मज श्रीविट्ठलेशजी के द्वारा विरचित यह सुन्दर व्याख्या मौजूद है। इस व्याख्या के प्रारम्भ में—

"अथ श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रमुखपद्म - विनिसृत निजप्रेमामृतं लिख्यते"। अन्त में—"इति श्रीमच्छ्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रमुखपद्माद्विनिसृतं निजप्रेमामृतव्याख्या समाप्तम्"॥

(५) श्रीवृन्दावन के गोस्वामि श्रीवनमालीलाल के ग्रन्थागार की प्रति में—

"इति श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रमुखपद्मविनिसृत निजप्रेमामृत-स्तोत्रम्"।

(६) जयपुर-श्रीसरसमाधुरीजी के द्वारा प्रकाशित नित्यपाठ संग्रह में—"श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रमुखपद्मविनिर्गत निज-प्रेमामृतस्तोत्रम्"।

(७) हमारे पास मौजूद प्राचीन हस्तलिखित प्रति में—श्रीकृष्ण-चैतन्यचन्द्रमुखपद्मविनिर्गत "निजप्रेमामृतस्तोत्रम्"॥ इत्यादि॥

अन्त:स्वाक्ष्य से भी यह स्तोत्र श्रीचैतन्यदेव के द्वारा विरचित होना सिद्ध होता है। श्रीपादजीवगोस्वामि महोदय ने राधा-सम्बलित श्रीकृष्ण भजनीय हैं इसका प्रतिपादन करते हुए "श्रीश्रीराधाकृष्णार्च्चनदीपिका" नामक ग्रन्थ लिखा है। उनके शिष्य श्रीलकृष्णदासजी ने श्लोकाकार में परिशिष्ट रूप से इस की विवृति लिखी है। जिस में नवम प्रकाश हैं। उक्त ग्रन्थ विवृति के साथ श्रीहरिदासदास, (हरिबोलकुटीर, नवद्वीप) के द्वारा वंगाक्षर में

प्रकाशित हुआ है । राधाकृष्णभजननिर्णयमय नवम प्रकाश के शेष में प्राचीन महानुभावों के वचनों का प्रमाण रूप से उद्धृत करते हुए श्रीजीवशिष्य कृष्णदास ने प्रमाणित कर दिया है।

अथ कलियुगपावनावतार श्रीभगवत:—(प्रेमामृतरसायन)

रासोल्लासमदोन्मत्तो राधिकारतिलम्पटः ॥३३॥

अलक्षितकुटीरस्थो राधा-सर्वस्वसम्पुटः ॥२६॥ इत्यादि

पृ० १५५

यह स्तोत्र महाप्रभु चैतन्यदेव के द्वारा विरचित है इस से बढ़ कर अधिक प्रमाण क्या माना जा सकता । अस्तु-आगे किसी समय हम इसका विस्तृत विवेचन करेंगे—

यहाँ एक रहस्य बात कहनी पड़ेगी कि—महाप्रभु के परिकर-प्रधान राधिकावतार श्रीलपण्डितगदाधरगोस्वामिमहोदयने भी "प्रेमामृत" करके एक स्तोत्र लिखा है। जिस का परिचय गोविन्द जी के सेवाधिकारी श्रीराधाकृष्णगोस्वामी महोदय ने "साधन-दीपिका" नामक ग्रन्थ की सप्तम कक्षा में इस प्रकार दिया है—

श्रीहरिदासदासमहोदय, (हरिवोलकुटीर, नवद्वीप) के द्वारा वंगाक्षर में यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है ॥

इदमेव रहस्यम्—

"प्रेमामृतमयस्तोत्रैः पण्डितश्रीगदाधरः ।
स्वरूपगुणमुत्कीर्त्य ब्रजराजसुतस्य हि ॥
पत्रे विलिख्य तद्धीमान् प्रभोः पार्श्वमुपागतः ।
लज्जाभययुतं तन्तु ज्ञात्वा सर्वज्ञशेखरः ।
तद्धस्तात् पत्रमानीय स्तवराजं विलोक्य सः ।
आश्वासयुक्तया वाण्या पण्डितं चावदत् प्रभुः ।
त्वयि कृतो मया पूर्ण शक्तेः सञ्चार एव यत् ।

स्तवराजस्ततोऽयं ते मुखद्वारा प्रकाशितः ।
इत्युक्त्वा श्रीस्तवस्यान्ते स्वनामाप्यलिखत् प्रभुः" ॥

अर्थात्—बुद्धिमान् श्रीगदाधर पण्डितगोस्वामीजी प्रेमामृतमय स्तोत्रों से ब्रजराजनन्दन के स्वरूप-गुणो का कथन करके तालपत्र में लिख कर महाप्रभु के निकट उपस्थित हुए । उनको लज्जित तथा भय युक्त जान कर सर्वज्ञचूड़ामणि महाप्रभु ने उनके हस्त से पत्र को लेकर स्तवराज को देख कर आश्वासयुक्त वाणी से कहने लगे कि—मैंने पहले तुम में शक्ति का संचार किया है जिस से यह स्तवराज तुम्हारे मुख से प्रकाशित हुआ । ऐसा कह कर स्तव के अन्त में प्रभु ने अपने नाम भी लिख दिये ।

स्तोत्र के आरम्भ में—

"विनोदी रसिकः कृष्णः सतृष्णः सरसः सुखम् ।
प्रेमानन्दमयः स्निग्धः सच्चिदानन्दविग्रहः" ॥१॥

शेष में—"यः पठेत् शृणुयादपि स्तोत्रमेतत् सुखावहम् ।
सरसं प्रेम कृष्णस्य त्वरितं लभते ध्रुवम्" ॥२४॥

इति श्रीकृष्णप्रेमामृतं स्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

अस्तु—श्रीमन्महाप्रभुगौरांगदेव के द्वारा विरचित स्तोत्र-प्रबन्धादि का परिचय इस प्रकार है—

न्यायशास्त्र की टीका—(अद्वैतप्रकाश, १६, परिच्छेद) अप्राप्य
श्रीमद्भागवत की टीका—(अद्वैतप्रकाश० १६ परिच्छेद) अप्राप्य
कलापव्याकरण की टिप्पनी—(चैतन्यभागवत आदिखण्ड दशम-अध्याय) अप्राप्य.
विद्यासागरी (विश्वम्भरटीका)—अद्वैतप्रकाश० १३ परिच्छेद.—(विष्णुप्रियापत्रिका ६ वर्ष)

आद्यश्लोक–"विकसतु नवकुसुममाली मम हृदि हरिपादपारिजातस्य ।
राहुभयादिव विधुना कायव्युहो विनिर्म्मितो वियति" ॥

राधाप्रेमामृत वा गोपालचरित— (विष्णुप्रियागौरांगपत्रिका)
श्रीनित्यानन्दाष्टक—(गौरांगसेवक १३०६ कार्त्तिकसंख्या)
श्रीकृष्णस्तोत्र—(८ श्लोक) प्रारम्भ में—

"नवीनमेघशोभकं नवाङ्गनालिमध्यगम् ।
निकुञ्जरत्नमन्दिरं नमामि कृष्णसुन्दरम्" ॥

श्रीराधाकृष्णयुगलपरिहारस्तोत्र—

प्रारम्भ में—"हे सौन्दर्य्यनिदान रूपगरिमन् माधुर्य्यलीलानट" इत्यादि। (विष्णुप्रियागौरांगपत्रिका, गोस्वामीस्तवावली [दीनबन्धुदासजी] साधककण्ठमाला, । वराहनगर पाटवाड़ी से] नित्यक्रियापद्धति, [मत्कर्त्तृकसंकलित] महाप्रभुग्रन्थावली, [मत्कर्त्तृक प्रकाशित]

राधारसमञ्जरी—(३० श्लोकात्मक)

प्रारम्भ में—"कुचकलशभरार्त्ता केशरीक्षीणमध्या
विपुलतरनितम्बा पक्वविम्बाधरोष्ठी" इत्यादि

गोस्वामी अतुलकृष्ण महाराज, (वृन्दावन) के पुस्तकालय में, गो० नीलमणिके ग्रन्थागार, भक्तिविद्यालय(वृन्दावन) में, गोस्वामी श्रीकृष्णचैतन्यजी (पाटना) के पुस्तकालय में, गोस्वामी राधाचरनजी (वृन्दावन) महाराज के पुस्तकालय में, वराहनगर पाटबाड़ी में इस की प्रतियाँ मौजूद हैं । हमारे पास भी हस्तलिखित प्रतियाँ हैं । महाप्रभु ग्रन्थावली में हमने इसका प्रकाशन किया है ।

श्रीराधिकाष्टोत्तरशतनामस्तोत्रम्—

प्रारम्भ में—श्रीमद्राधा रसमयी रसज्ञा रसिका तथा ।
रासेश्वरी रसभुक्तिः रसपूर्णा रसप्रदा ॥
(विष्णुप्रियागौरांगपत्रिका)

शिक्षाष्टक—(प्रसिद्ध है) कृष्णदास बाबा

प्रेमावतार—

श्रीमन्महाप्रभुकृष्णचैतन्यदेवमुखपद्मविनिर्गत—

—:❀: प्रेमामृतरसायनस्तोत्रम् । :❀:—

श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितविवरणसमेतम् ।

नमस्तारुण्यकैशोरलावण्यनिभृतात्मनोः ।
परस्पर प्रणयिनोर्गोपीमाधवयोर्दृशे ॥१॥
राधागीतानि नामानि मत्प्राणसदनान्यहम् ।
कथञ्चित्कालगत्यर्थं व्याख्यास्येऽत्र यथामति ॥२॥

एतद्रसरसिकजनमनःसन्तोषार्थं राधिकोक्तनामानि प्रकटयितुं भूमिकां रचयन्नेव नामोत्थानप्रकारमाह एकदेति—

एकदा कृष्णविरहाद्ध्यायन्ती प्रियसङ्गमम् ।
मनोबाष्पनिरासाय जल्पतीदं मुहुर्मुहुः ॥१॥

यदा मानो बभूव कदाचिद्राधायास्तदनन्तर भगवतापि मानापनोदनार्थं यत्ने कृतेपि तद्रसस्वाभाव्यान्न मानमत्यजद्भगवांश्च दूत्यादिप्रेषणेन संमाननार्थं निकुञ्जमगमत् स समय एकदेतिपदेनोच्यते । एतेन अधुनापि ताभिः सह भगवान् पूर्ववत् क्रीडतीति सूचितम् । तेनैकदा कृष्णविरहादिति समस्तं पदं ज्ञेयम् । परमानन्दविरहे युक्तमेव दुःखमिति ज्ञापनार्थं कृष्णपदम् । अत एव तद्विरहक्लेशस्तत्सङ्गमादेव गमिष्यतीति निश्चित्य तस्य च सपद्यभावेन तदपगमार्थं प्रियसङ्गमं ध्यातवती । एतदेवाह ध्यायन्तीतिपदेन । प्रीतेरेव दुःखहेतुत्वम्, प्रियस्यैव दुःखनिवृत्तिरिति ज्ञापनार्थं प्रियपदम् ।

यद्वा भगवत एव प्रियत्वादन्यस्याप्रियत्वात्तद्ध्यानमेवाभून्नान्यस्येति ज्ञापनार्थं प्रियपदम्। यद्वा, प्रियसङ्गमं प्रियसङ्गमोपायं ध्यायन्तीत्यर्थः। एकदेति पदेन यदा काचित्सख्यपि नासीत् तदेत्यपि सूचितम्। तेन कुत्रचित्कथनस्याप्यभावेन मनस्येव बाष्पं पूर्णमभूत्। तन्निरासायेदमग्रे वक्ष्यमाणं स्वयमेव जल्पति, न तु कस्याप्यग्रे कथयतीत्यर्थः। स्वयमपि जल्पने तद्द्वारा बाष्पस्यापि बहिर्निस्सरणे किञ्चित्स्वास्थ्यमिव भवतीति तथा। जल्पनोक्त्या विकलत्वं सूच्यते। एकवारं जल्पिते तदनन्तरं मूर्च्छायां जातायां ततः कथञ्चित् जागरणे च सति पुनर्जल्पतीति ज्ञापनार्थं मुहुःपदम्। वीप्सया जल्पितमूर्च्छाजागरणपुनर्जल्पितानामावृत्तिर्ज्ञापिता। सङ्गमसाधनत्वेनापि जल्पतीति ज्ञातव्यम्, यथा पञ्चाध्याय्यां गोपिकागीतम्॥१॥

कृष्णः कृष्णेन्दुरानन्दो गोविन्दो गोकुलोत्सवः।
गोपालो गोपगोपीशो वल्लवेन्द्रो व्रजेश्वरः॥२॥

जल्पितमेवाह कृष्ण इति – स्त्र्यर्थमेव प्रादुर्भूतो भगवान् कृष्णशब्दवाच्य इति। कृष्णपदार्थः क्वचिद्विवृतः, परमानन्दवाचकत्वेन च "कृषिर्भूवाचक" इत्यादिना तथा चास्मदर्थमेव प्रकटत्वेन परमानन्दत्वेन च नास्मद्दुःखं द्रक्ष्यतीति भावः। स्वरूपेण तथात्वमुक्त्वा धर्मैरपि तथात्वं वदन्ती स्वस्य तारकाभावं भावयन्ती तथेष्टत्वेन स्ववेष्टितभगवतो नामाह कृष्णेन्दुरिति। श्यामेन्दुत्वेनालौकिकत्वात् तारकाभूतानां गोपीनामपि तथात्वं सूचितम्। तेन निष्कलङ्कत्वशश्वत्पूर्णत्वाह्लादकत्वादीनि सूचितानि। एवं धर्मधर्मिभावमुक्त्वा धर्मतामेवाहुः आनन्द इति। तथा च पूर्वं स्वार्थं प्रकटीभूय पूर्वविरहतापमिन्दुत्वेन शमयित्वानन्दपूर्णाः करोतीति नामत्रयेण क्रमेणोक्तमधुनापि तथैव कुर्विति भावेन पूर्वोक्तस्वार्थप्राकट्ये प्रमाणभूतं नामाह गोविन्द इति। इदं नामैव तत्र मानम्। नामानन्तरमिन्द्रादिभिरस्मत्पतित्वेनाभिषिक्तः। अन्यथेन्द्रादिभिः स्वपतिर्भगवान् अस्म-

त्पतित्वेन कथमभिषिक्तः । अतोऽस्मान्परित्यज्य न लक्ष्म्यादिष्वपि भजनं भगवतो युक्तमिति भावः । किञ्च – पूर्वमिन्दुत्वनिरूपणेना-धुना चेन्द्रत्वनिरूपणेन यथेन्द्रभर्तृकायामेव दिशि चन्द्रोदयनियमः तथा भगवतः श्रीगोपीजनवल्लभस्य गोकुल एव प्राकट्यम्, न मथुरा-दिष्वपीति सूचितम् । अपि च चन्द्रोदयकार्यं हि मार्गादिप्रकाशः । अस्य चालौकिकत्वेनालौकिक एव स प्रकाशः । तादृशः सोऽतिदुर्लभो ब्रह्मादेरप्यस्मास्वेव भजनमार्गः प्रकटोऽभून्नान्यत्र । यद्यन्यत्रापि स्वयं प्रकटः स्यात् स्वमार्गमपि तत्र प्रकटयेन्नत्वेवमिति निगर्वः । तेन गोपदमुपलक्षकम् । तथा चोक्तम् "इति गोगोकुलपदं गोविन्दम-भिषिच्य से"ति । अतः परं स्वदुःखदर्शनाक्षमतायां हेतुभूतं नामाह गोकुलोत्सव इति । यो यत्रत्योत्सवरूपो यत्र येनोत्सवः स तत्रत्यं दुःखं कथं द्रक्ष्यतीति भावः । ननु सर्वेश्वरस्य कथं गोकुलमात्रेश्वरत्व-मत आह गोपाल इति । स्वयं तादृशोऽपि पुरुषोत्तमोऽपि सन् गोपाल-रूपो यः स्वयमेव जातः । तेनास्मास्वेव पक्षपातो नान्यत्रेति ज्ञायत इति भावः । तेन गोपान् लाति आदत्ते आत्मीयतया स्वीकरोतीति तथेत्यर्थो ज्ञेयः । एवं सामान्यतो भगवतः स्वामित्वमुक्त्वा विशेषे-णाह गोपगोपीश इति । गोपानां वयस्यानां गोपीनां चेशः स्वामी-त्यर्थः । यद्वा गोपसम्बन्धिन्यो या गोप्यो गोपभार्यास्तासामीशः स्वामीत्यर्थः । तेन न केवलं कुमारिकाणामेवेशः किन्तु सर्वासाम-पीति भावः । स्त्रिय उक्त्वा वृद्धानाह वल्लवेन्द्र इति – वल्लवानां कुल-वृद्धगोपानामिन्द्रः कुलदैवतमित्यर्थः । तदुक्तम् – "वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धै"रिति । अन्यथा तेषां वन्दनं न घटेत । अतःपरं कियदवधि गणना कर्तव्या । पशुतृणपर्यन्तस्य सर्वस्यैव व्रजेश्वर इत्याह व्रजेश्वर इति । ईश्वरो राजवन्नियामक इत्यर्थः । एतेन गोपेत्यादिनामत्रयेण गोकुले भर्तृत्वं पूज्यत्वं राजत्वं च भगवत एवेति । स्वस्य सर्वात्मना तदेकस्वामित्वसर्वाधिकगोकुलोत्कर्षौ सूचितौ । अन्यत्रैतत्त्रितयस्यै-

कत्राभावेन विभक्ततदीयत्वकत्वात् । तेन व्यतिरेकालङ्कारोऽपि । यथा जगद्भगवन्निर्मितमिति जगदीश्वर इत्युच्यते भगवान् तथा अयं सर्वोऽपि व्रजोऽनेनैव स्वरूपेण निर्मितो न साधारणनिर्मातृस्वरूपेणेत्यधिपादिपदेषु सत्स्वपीश्वरपदप्रयोगात् सूच्यते । तथा चोक्तं श्रीवाराहेण-"अन्यैव काचित्सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणी"त्यादि ॥२॥

ननु यद्येवं तदा स्वयमेव मिलिष्यति कदाचित्का त्वरेत्याशङ्कायामेव पूर्वानुभूतं किञ्चित् स्मृत्वाह प्रत्यहमिति—

प्रत्यहं नूतनतरस्तरुणानन्दविग्रहः ।
आनन्दैकसुखस्वामी सन्तोषाक्षयकोशभूः ॥३॥

अहःशब्दोऽत्र दिवसवाची । तथा च सम्पूर्णरात्रिरमणेपि प्रातर्यदा भगवान् जिगमिषति तदा यथा नूतनागतेऽभिलाषा ततोधिका सा भवतीति तत्स्मृत्वेदमुक्तम् । यद्यपि भगवतः प्रतिक्षणमपि तथात्वमेव तथापि पूर्वोक्तसमयविरहभीरुत्वेन सर्वातिशयितस्यानुभवैकवेद्यस्य भावविशेषस्य जायमानत्वात्तथोक्तम् । तेन प्रतिक्षणं नूतनत्वं प्रत्यहं नूतनतरत्वमिति भावः । अहःशब्दः क्षणोपलक्षक एवेति केचित्, तन्न मुख्यार्थोपपत्तौ गौणस्यायुक्तत्वात् । अव्ययप्रयोगेण सम्पूर्णरात्रिरमणेपि भगवति विरतिक्लमादयो व्यावर्तिताः । यत्र सङ्गमेप्येवं तत्र का वार्ता विरह इत्याशयः । अतःपरं क्लमाद्यभावे उपपत्तिमाह तरुणेति । तरुणः पूर्ण इत्यर्थः । तेन गणितानन्दानामक्षरादेर्व्यावृत्तिः । तथा च तादृशः स एव विग्रहो यस्य स तथा । पूर्णत्वे वक्तव्ये यत्तारुण्यं निरूपितं तेन भगवतः स्वस्मिन्नेवानुरागः, प्राकट्यं चास्मदुपयोग्येवेति भावः सूचितः । भगवतः किशोरत्वेन तरुणीरमणसामर्थ्याभावशङ्का च परिहृता । एतेनैव भगवतो बाल्येपि गोपीभिः सह स्वच्छन्दरमणं सूचितम् । अत एव "यर्ह्यम्बुजाक्षे"ति श्लोके "त्वयाभिरमिता" इत्यन्यसमक्षमस्थितौ हेतुभूतं स्वविशेषणम् । न चाधुनिकमेव तत्तत्र हेतुः । तत्र चरणस्पर्शरमण-

योरवधित्वहेतुत्वे तदा सम्भवतो यदि प्रथमदिवससञ्जातचरणस्पर्श-समानकालीनं रमणमपि स्यात् । तेन तयोस्तत्त्वान्यथानुपपत्त्यैव तथा मन्तव्यमिति निगूढाशयः । तत्सम्बन्ध्यपि तथैवेत्याह आनन्दैकेति-आनन्दोऽन्तःकरणदेहादिसर्वव्यापकः । सुखमव्याप्यवृत्ति । तथा चानन्दरूपं यत्सुखं तत्स्वामो तदीश्वरस्तदुपभोक्ता तद्दाता चेत्यर्थः । एतेन भगवदीयं यत्किञ्चिदपि सुखं सर्वांशव्यात्पीत्युक्तं भवति । अत एव भागवते वेदस्तुतौ "महिमामृतसमुद्रविप्रुषे"त्युक्तम् । स्वामित्वेन भगवत एव तत्तथा, नान्यस्येति सूचितम् । भगवत्स्पर्शमात्रेपि स्वस्य स्वादिसत्ताज्ञानाभावेनैकपदप्रयोगः । तदुक्तम्-"नीवीं प्रति प्रणिहिते च करे प्रियेण सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामी"ति तेन स्वस्योत्तमनायिकात्वं ज्ञापितम् । यद्वा नामद्वयमिदम् । "क्लेशोधिकतरस्तेषा"मित्यादिवाक्यैर्ब्रह्मानन्दस्यापि दुःखानुविद्धत्वदर्शनात्तस्मादप्युत्कृष्टमिदमित्येकपदेन सूचितम् । एतादृशमपि सुखं स्वामित्वादस्मभ्यमेव ददाति, नान्यस्मा इत्युक्तम् । स्वामीति नामान्तरेण दानोत्तरसमयं स्मृत्वाह सन्तोषेति - सन्तोषस्य येऽक्षयकोशास्तद्रूपोत्पत्तिस्थानम् । भूत्वनिरूपणेन भगवतैव सन्तोषो नान्येनेति ज्ञापितम् । कोशत्वेनैकस्यापि भगवदीयस्यानेकविधसन्तोषाधायकत्वं सूचितम् । अक्षयत्वेनोत्तरोत्तरं सन्तोषेऽपि पूर्वपूर्वसन्तोषानुवृत्तिः सूचिता । एतेन नित्यलीलात्वं सूचितम् ॥३॥

एवं सन्तोषस्मरणे पूर्वानुभूतभगवज्जन्मसामयिकं सन्तोषं स्मृत्वाह आभोरेति—

आभीराभिनवानन्दः परमानन्दकन्दलः ।
वृन्दावनकलानाथो व्रजानङ्गनवांकुरः ॥४॥

आभीराणां योऽभिनवः पूर्वाननुभूतजातीय आनन्दः परमानन्दश्च तत्कन्दलस्तन्मूलकारणमित्यर्थः । इदमत्राकूतम् । नन्दगृहे पुत्रोभूदिति तैर्यदैव श्रुतं तदैव तेषां तादृश आनन्दः समजनि । येन

प्रामाणिका वृद्धा अपि महान्त नृत्यं कृतवन्तः । तथा च तादृशस्य तद्धेतोरन्यस्य पूर्वमज्ञातत्वेन तत्कालीनस्य तस्याभिनवत्वम् । तदनन्तरं पुष्टे भगवत्येतादृशोऽस्माकं स्वामी समभून्महद्भाग्यमस्माकमिति परमोऽतिशयित आनन्दोऽभूदिति तत्तथेति । यद्वा, पूर्वोत्तरपदयोः कर्मधारयो नामद्वयं वा । आभीराणां पूर्वोक्तानन्दरूप एव, स्वस्य च तदर्थमेव जातत्वात्तत्प्रतीक्षयैव चात्र स्थितत्वात्तस्मिन्प्रकटे जाते स्वस्य परमानन्दोऽभूदिति गोपिकानां परमानन्दकन्दल इति जन्मकालीनानन्दवाचकत्वमेव पदद्वयस्यापीत्युभयत्र समानम् । स्वयं कन्दलत्वं निरूपयन्त्यान्येषु पूर्वोक्तानन्ददातृत्वेनैव प्रकटो नास्मद्विषयरूपेणापीति सूचितम् । ततो बृहद्वनाद्वृन्दावनमागत्य सुखं दत्तवानिति क्रमेण तत्स्मृत्वाह वृन्दावनेति-वृन्दावनस्य कलानाथश्चन्द्र इत्यर्थः । यथा गगनैकदेशे सत्त्वेऽपि चन्द्रस्याखिलतत्प्रकाशकत्वम्, तथा भगवतोऽपि वृन्दावन इति सूचितम् । यद्वा यदनुरञ्जनार्थं यन्नृत्यं तस्य स एव नाथः । तेनात्रापि वृन्दावने भगवदनुरञ्जनार्थमेव कलाः कोकिलादिकूजनमयूरादिनृत्यादय इति भगवानेव तन्नाथो राजवद्द्रष्टेत्यर्थः । यद्वा वृन्दावनरूपा या कला तस्या नाथ इत्यर्थः । षोडशकलात्मको हि चन्द्रः, तेनास्य चन्द्रस्य पूर्वं श्यामत्वेन निरूपणात् वृन्दावनस्यापि तथात्वात् युक्तं कलानाथत्वमस्य । षोडशनाम्न्येतन्निरूपणेनैतस्यापि कलासु षोडशत्वं सूचितम् । तेन यथा पञ्चदशकलासु सत्स्वपि षोडश्यभावे पूर्णव्यपदेशो न, तस्मिन्सत्येव तद्व्यपदेशस्तथेहापीति भावः । एतादृशो गोपीनामेव हृदयेऽस्ति, नान्यत्रापीत्याह व्रजेति – व्रजसम्बन्ध्यनङ्गकल्पतरोर्नवांकुर इत्यर्थः । पूर्वं कामस्याङ्गराहित्येन भगवति प्रकट एव साङ्गत्वेन तस्य नवांकुरत्वम् । एतेनानङ्गरूपत्वमेव भगवत उक्तम् । अत एव नवपदम् । अन्यथांकुरपदेनैव चरितार्थता स्यात् । श्रीरघुनाथदत्तवर एव बीजम् । अनङ्गरूप एव नवांकुरो हृदये समभूत् ।

ततः प्रत्यहं प्रेमरसेन सिच्यमानस्तत्रैव विततोऽभूदिति हृदयम् । अत्र व्रजपदेन व्रजस्था गोप्य उच्यन्ते । न हि गोपीव्यतिरिक्ते कस्मिन्नप्येतादृशकामसम्भवः । एतेन यदि भगवान् स्वयमेवैतादृश-कामरूपो हृदि प्रादुर्भवत्येतासामिव, तदा तेन कामेन भगवद्रमणम्, न लौकिकेन । नाप्ययं भावोऽन्यस्य सम्भवत्यपि विनैतादृशकृपामिति सूचितम् ॥४॥

तत्र हि पूर्वमंकुरः, ततः पुष्पफलादि, तेन प्रथममनङ्गरूपेणैवां-कुरतेत्यंकुरतामुक्त्वा पुष्पतामाह नयनेति—

नयनानन्दकुसुमो व्रजभाग्यफलोदयः ।

प्रतिक्षणातिसुखदो मोहनो मधुरद्युतिः ॥५॥

नयनानां य आनन्दः स एव कुसुमं यस्य स तथा । एतेन भग-वता विना नान्यस्मान्नयनानन्द इति सूचितम् । तथा च सन्ध्यायां यदा भगवानागच्छति तत्कालोनं स्मृत्वेदमुक्तमिति ज्ञेयम् । अत एव कुसुमरूपता । फलस्याग्रे भविष्यमाणत्वात् । अतः परं फलरूपता-माह व्रजेति । अत्र पञ्चमीबहुव्रीहिर्नोपादेयः । तद्व्यतिरिक्तस्य तादृ-शस्यासम्भवात् । किन्तु व्रजभाग्यरूपफलरूपश्चोदयो यस्य स तथेति । उदयपदेन चन्द्रत्वं लक्ष्यते । तेन दिनसंजातविरहतापहारकत्वं सूचि-तम् । फलत्वं मुख्यं तापहरणं प्रासङ्गिकमिति ज्ञापनार्थं तथा निरू-पितम् । तथा चोक्तं "यदुपतिर्द्विरदराजविहार" इति श्लोके । यद्वा व्रजपदेन व्रजस्था गोप्य एवोच्यन्ते । तथा च यदा रात्रौ सङ्केतस्थले भगवदुपभोगोपयोगिसर्ववस्तुसम्पन्नाः प्रतीक्षन्त्यो गोप्यो निजनिज-स्थले तिष्ठन्ति, तदा भगवानकस्मात्प्रकटो भवति तत्रेतीमं समयं स्मृत्वेदमुक्तम् । अत एव फलत्वमुक्तम् । युक्तश्च सन्ध्यायां पुष्पता रात्रौ फलतेति । अत्रैवायमप्यर्थो ज्ञेयः । यत् व्रजस्य साधारणस्यैव भाग्यं तस्यापि फलरूप उदयो यस्येति । तत्कालोनोदयस्यासाधा-रणत्वात्तथा तत्त्वश्च भगवति व्रजे भाग्यरूपे प्रकटेप्येतद्रसानभिज्ञ-

त्वात् व्रजस्य तदापि प्रार्थनीयत्वयोग्यत्वम् । अस्य सर्वतोऽपि महत्त्वादिति हृदयम् । आगमनोत्तरसमयं स्मृत्वाह प्रतिक्षणेति – प्रतिक्षणं केवलसङ्गमसुखादप्यतिशयितसुखदानेत्यर्थः । तस्मादतिशयितत्वं परिरम्भणादिभिः । पूर्वपूर्वक्षणादुत्तरोत्तरक्षण एकस्मिन्नेव परिरम्भादावतिशयितसुखानुभावक इति तथा । यद्वा प्रतिक्षणपदेन सङ्गमादिना प्रतिक्षणं संजातं सुखं लक्ष्यते । तथा च पूर्वोक्तावस्थायामत्युत्कण्ठतायास्तदा समागतमात्रस्यैव भगवतो दर्शनेन यत्सुखं तस्यानुभवैकवेद्यस्य सर्वातिशयितत्वेनानुभवात्ताहृशसुखद इत्युक्तमित्युदयसामयिकस्यैवेदं नाम । तदुत्तरस्य समयं स्मृत्वाह मोहन इति । तदैव विविधबन्धादिभिर्मोहन इत्यर्थः । सर्वांशेनैव तथेति न विशेषनिर्देशः । तेन यथैव मोहनं गोपीनां भवति तथैव करोतीति भावः । एवं मोहनोक्तौ मर्मस्पर्शेन मूर्च्छायां जातायां कथञ्चिज्जागरणे च जातेऽत्यार्त्या भगवदागमनस्यैव हृदिस्थत्वेन तदेव स्मृत्वाह मधुरेति । भगवतस्तदा शृंगारं कृत्वा समागतत्वेन प्रकृत्यैव च तादृश्येव द्युतिरिति तथा । आगमनात्पूर्वमेव द्युत्यैवागमनज्ञानात् द्युतिनिरूपणम् । यद्वा सर्वशक्तिपूर्णस्योदितकामस्य तेजसोऽसह्यत्वे साम्याभावात् रमणे कथं रसोत्पत्तिरित्यत आह मधुरेति । कोटिसूर्याधिकतेजोवत्त्वेऽपि न सूर्यवत्कठिनत्वम्, अपि तु सर्वदैव मधुरत्वमित्यर्थः । यद्वा यदा भगवानागमनमुक्त्वान्यत्र रात्रिं गमयित्वा प्रातरायात्यत्र तदा मानवत्यां राधायां तादृशं मोहनं करोति, येन झटिति वशे भवतीति स्मृत्वोक्तं मोहन इति । तदैव सुरतचिह्नाङ्कितस्य विपर्यस्तवाससः अलसस्य मदनरणजयजनितस्मयघूर्णायमानरजनिजागरसरागनयनस्य सुस्मितमुखाम्भोजस्य द्युतिरतिमधुरेति मधुरद्युतित्वम् । यद्वा रतिसमय एव जघनादिगतिलोलवपुषो द्युतिर्मधुरा मनोहरेत्यर्थः ॥५॥

अतः परं क्रमेणाधरसुधापानं स्मृत्वाह सुधेति—

सुधानिर्यासनिचयः सुन्दरः शीतलाकृतिः ।
नवयौवनसम्भिन्नश्यामामृतरसार्णवः ॥६॥

पूर्वोक्तानङ्गकल्पतरोः सुधारूपो यो निर्यासस्तन्निचयस्वरूप इत्यर्थः। यद्वा – सुधाया एव निर्यासः सार इति यावत। तन्निचयभूत इत्यर्थः। यथा रसद्रव्यस्यैव दुग्धादेर्मथनेन तत्सारभूतो नवनीतचयस्तथेति हृदयम्। अधरामृते तस्मादधिकत्वं स्पष्टम्। अत एव मुरल्या वेणुरिति नाम। वश्च इश्च वयौ तावणू यस्मादिति वेणुपदार्थः। तत्त्वं चास्याधरसम्बन्धादेवेत्यधरस्यैवामृतकामरसाणूकरणसामर्थ्यमिति "बर्हापीडे"ति श्लोके निरूपितम्। निर्यासत्व–निरूपणेनात्र सम्बद्धोत्रैव लग्नो भवति,नान्यत्रेति सूचितम्। तदुक्तम्। "इतररागविस्मारणं नृणा" मिति। एवं मुख्यविशेषमुक्त्वा सामान्यतोनुभावकत्वमाह सुन्दर इति। सर्वांशेनैव तथेति न विशेषनिर्देशः। अत एव सर्वाङ्गे शास्त्रोक्ताश्चेष्टास्ताभिः क्रियन्ते। तेन सर्वासक्तिविषयत्वमप्यस्य ध्वनितम्। तथात्वेपि पुरुसौन्दर्यं स्त्रीणामेवोपयोगीति विशेषतस्तासामेवासक्तिविषय इति तात्पर्यम्। एव सौन्दर्योक्तौ तस्य प्रथमासक्तिहेतुत्वेन तत्स्मृतिरभूत्। तत्र च पूर्वं सुन्दरत्वेनासक्तौ जातायां पश्चाद्विरहेणात्यातुरतायां साक्षादप्राप्तौ चित्रेप्याकृतिदर्शनेन तादृशबाधकतापो व्यगमदित्याह शीतलाकृतिरिति। यद्वा अतिदुःखेनेषत्क्रुद्धाह शीतलेति। आकृतिः परं शीतला, न स्वयमित्यर्थः। प्रथमतः शीतलाकृतित्वेनान्तरप्येवमेव भविष्यतीति ज्ञात्वा प्रवृत्तायां स्त्रियां पश्चाद्यथाकथञ्चित्तां मारयत्येवैतच्च दृष्ट पूतनादाविति भावः। एतदेव" भ्रमति भवानबलाकवलाये"ति गीतेप्युक्तम्। यद्वा शीतलाकृतिः साधरणलोकप्रतीत्या कामादिरसानभिज्ञ इत्यर्थः। एकान्ते तु परमचतुर इति भावः। एतेन स्वस्य भगवतोपि निःशङ्का प्रवृत्तिर्द-

शिता । एवमाकृतेरपीष्टदातृत्वं निरूप्य वयसोपि तथात्वमाह नवेति।सम्भिन्न: संवलित इत्यर्थ: । तेन वय:सन्धिरुक्ता । नवत्वेनानङ्कुरितकूर्चकत्वाद्रतिसमयेऽतिशयितसुखानुभावकभावजनकत्वमुक्तम् । तदुक्तम्–"अनङ्कुरितकूर्चक: शृतसितोपलाढ्यं पय" इत्यादिना । तेन संवलितभावादिभिरप्यतिमोहन इति भाव: । अधुना समुदितस्वरूपमात्रनिविष्टा तत्रापि वर्णमात्रस्यापि रसरूपत्वमित्याह श्यामामृतरसार्णवेति। यथा दुग्धादे: सितस्तथा श्यामरूपो योऽमृतस्य रसो मन्थनेनैव निर्गतस्तस्यापि सारभूत इति यावत । तस्यैवार्णव इत्यर्थ । श्यामत्वोक्त्या प्रसिद्धासितसुधारसतोऽत्यलौकिकत्वं सूचितम् । तेन तत्स्थितनयनकुण्डलवदनरदकरचरणादीनामप्यलौकिकमीनमकरमणिकमलादित्वं रसस्य च नि:सीमत्वमेतद्रसमग्नस्य पुनरनुत्थानं च ध्वनितम् । यद्वा–श्यामा: षोडशवार्षिक्यो गोप्यस्तत्सम्बन्ध्यमृतरसोऽधरामृतरस इति यावत् । सोर्णवो यस्मिन्नित्यर्थ: । एतेनातिसरसासंख्यगोपीभोक्तृत्वमुक्तम् ॥ ६ ॥

एव वर्णं निरूप्य विपरीते भगवति स्वप्रतिबिम्बं जातम् । तत्र चाकचक्यं स्मृत्वाह इन्द्रेति—

इन्द्रनीलमणिस्वच्छो दलिताञ्जनचिक्कण: ।
इन्दीवरसुखस्पर्शो नीरदस्निग्धसुन्दर: ॥७॥

इन्द्रनीलमणिवत् स्वच्छो निर्मल इत्यर्थ: । तेन यथा मणिर्बहिरन्तरप्येकरूपस्तथा भगवानप्येकरस इति सूचितम् । गोपीजनवेष्टितस्य कनकजटितमहामणिशोभावत्त्वं च । निकटस्थवस्तुप्रतिबिम्ब – वतो मणे: सादृश्यनिरूपणेन स्वप्रतिबिम्बि – तत्वं सूचयन्त्यान्तर्भगवतो गोप्यात्मत्वमपि सूचितम् । तदुक्तं भगवता "ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहं" मिति, "मयि ते तेषु चाप्यहं" मित्यादि च । मणिदृष्टान्तेन यथा श्यामत्वेन सुन्दरत्वेनैवान्यलोकप्रीतिविषयो न तद्गुणज्ञपरीक्षकजनस्यैव । तथा भगवानपि

सुन्दरादित्वेनैव तथा सर्वेषां न, किन्तु तत्स्थतरसिकशिरोमणि-त्वादिविदुषां गोपीनामेवेति सूचितम्। एवं रूपनैर्मल्ये निरूप्य क्रमेण चिक्कणतामाह दलितेति – दलितं घर्षितमित्यर्थः। तेन यथा स्नेह-द्रव्येणैव कज्जलोत्पत्तिः, तथा भगवतोऽप्यस्मत्स्नेहेनैव प्राकट्यमिति सूचितम्। यद्यपि पुनः स्नेहादिदानेन घर्षितमेव कज्जलमञ्जनशब्दार्थ-स्तेन न पूर्वपदापेक्षात्र। तथापि तस्मादप्यतिचिक्कण इति ज्ञापनार्थं दलितपदम्। केवलकज्जलवाचकमेव वात्राञ्जनपदम्। अञ्जनदृष्टान्तेन यथा स्त्रीणामेव नयनभूषणार्थं तज्जन्म, तथा गोपीजनवल्लभस्यापि प्राकट्यमत्र गोपिकार्थमेवैतन्नयन एव स्थिरत्वमेतद्रहिताया दुर्भगात्वं चेति सूचितम्। यद्वा अञ्जनपदं गोपीनयनस्थाञ्जनवाचकम्। तथा च दलितं द्विधाकृतं नयनोपरितनाधस्तनरेखाभ्यामेतादृशं तदपि चिक्कणं येन स तथा। यदा भगवान् मिलति, तदैव तत्तथा। नोचे-द्विरहतापेन सहजचिक्कणमपि तच्छुष्कमिव भवतीति तथोक्तम्। अत्रैव सादृश्यार्थोऽपि ज्ञेयः। तेन यथा सहजचिक्कणमपि तद्भगवतैव, तथा भगवानपि स्वरूपेणैव तथा, न तु स्नेहद्रव्योपरक्त्येति सूचि-तम्। यद्वा नयनस्थमेव तदधरेण दलितं द्विधाकृतं तस्मात् स्वस्मि-न्नानीतमिति यावत्। तादृशेन तेन चिक्कणो दृश्यः स्निग्ध इत्यर्थः। तेन प्रातरन्यगृहात्तथा समागतेऽपि न स्नेहाभावः, किन्तु स्निग्धत्व-मेवेत्यपि ध्वनितम्। अथवा – कदाचित्प्रियं स्नापयन्ती प्रियाङ्गे जलबिन्दुमात्रमपि स्थिरं नापश्यत्! तत्स्मृत्वेदमुक्तवतीति। अत एवाग्रेऽङ्गप्रोञ्छनं कुर्वाणा सर्वाङ्गीणस्पर्शसुखमन्वभूदिति तत्स्मृत्वाह इन्दीवरेति। इन्दीवरादपि सुखरूपः स्पर्शो यस्य स तथा। तेन सौगन्ध्यं रात्रौ सुखदत्वं चालौकिकत्वं च ध्वनितम्। यद्वा इन्दी-वरस्यापि सुखस्पर्शो येनेति। विरहे तस्यापि कठोरत्वोष्णत्वेनैव भानाद्भगवति मिलित एव सुकुमारत्वशीतलत्वेन भानात्तथात्वम्। यद्वा इन्दीवरपदेन गोपीनयनानि लक्ष्यन्ते। तथा च तेषां सुखरूपः

स्पर्शः सम्बन्धो यस्य स तथेत्यर्थः सम्पद्यते । एतच्च तदैव प्रोञ्छनानन्तरं सर्वासां सर्वाङ्गदर्शनेन सुखातिशयोभवदिति तत्स्मृत्वोक्तम् । तदनन्तरं कटिप्रदेशे सूक्ष्ममेव पीताम्बरं परिधाय स्थितं केशप्रसाधनं कारयन्तं स्मृत्वाह नीरदेति। नारदपदेनात्र वर्षन्मेघ उच्यते । तेन यथा सोऽन्तः स्नेहवांस्तप्तानां जीवनं नीरं ददाति तथा भगवानपि विरहतप्तानां जीवनरूपाममृतवृष्टिं वर्षतीति तद्वदन्तःस्निग्धः तद्वत्सुन्दरो बाह्यतः पीताम्बरेण स विद्युद्घनशोभावानित्यर्थः। एतेन यथा वृष्टेः पूर्वमपि केवलं मेघदर्शनादपि तापनिवृत्तिस्तथा भगवत्कृपावृष्टेः पूर्वमपि भगवदागमनादेव सर्वतापनिवृत्तिरिति सूचितम् । यद्वा नीरदे स्निग्धाः स्नेहवन्तो मयूरादयस्तैः कृत्वा सुन्दरस्तत्पिच्छधारणनृत्यकूजनाद्यनुकरणेन भगवति सभागते मेघबुद्ध्या नृत्यन्तः कूजन्तश्चावृत्य तिष्ठन्तीति वा तथा। यद्वा नीरदवत् स्निग्धा गिरा तद्वत्सुन्दरो वपुषेत्यभिप्रायः ॥७॥

तदनन्तरं सर्वाभिस्तिलकं विधाय चिबुकमारभ्य चरणतलपर्यन्तं चतुःसमेन लेपनं कृतमिति तत्स्मृत्वाह कर्पूरेति—

कर्पूरागरुकस्तूरीकुङ्कुमाक्ताङ्गधूसरः ।
सुकुञ्चितकचग्रस्तोल्लसच्चारुशिखण्डकः ॥८॥

एभिरक्तं यदङ्गं तेन कृत्वा धूसरत्वेन प्रतीतिविषय इत्यर्थः । पीतस्याङ्गरागस्येन्द्रनीलवपुषश्च दीधितयो यदा मिलिता भवन्ति, तदैकस्यापि रूपं पृथग्नाविर्भवतीति तथा प्रतीतिः, न तु स्वयं तथेति ज्ञेयम्। अक्तपदेनाङ्गरागस्य स्निग्धत्वं सूचितम् । एवमप्यतिसुन्दर इति ज्ञापनार्थं एतन्निरूपणम् । यद्वा चतुःसमेनाक्तं यदेकमप्यङ्गं तेनैव पूर्वोक्तरीत्या धूसरेण सर्वाङ्गप्रतिबिम्बितेन कृत्वा सर्वांशेनैव तथा प्रतीतिविषय इत्यर्थः। अत एवाङ्गपदम् । वस्तुतस्तु चतुःसमे वक्तव्ये पृथक्पृथक् निरूपणेन काभिः कर्पूरम्, काभिरगरुर्घर्षितः,

काभिः कस्तूरिका, काभिः कुङ्कुममानीतमिति ज्ञायते । तथा च यैव समागच्छति सैव स्वीयं वस्तु सर्वाङ्गे, काचित् काचिदेकस्मिन्नेवाङ्गे समर्पयतीति तथा । ते (न) नैकरूप इत्यर्थः । एतेन "इन्द्रनीलमणी" त्यादिनामपञ्चकेनार्थकाममोक्षधर्मभक्तिरूपपञ्चपुरुषार्थरूपत्वं भगवत उक्तम् । अस्यैवात्र मुख्यत्व, नान्येषामिति ज्ञापनाय व्युत्क्रमेण तेषां निरूपणम् । तदनन्तरमानखशिख शृङ्गारः कृत इति स्मृत्वा तदेव निरूपयति सुकुञ्चितेत्यादिना । यद्वा – एवं समुदिते स्वरूपे निरूपितेऽपि अतिप्रचुरत्वेन तापस्यानपगमे प्रत्यङ्गवर्णनमकरोत् । तत्र यद्यपि भगवतः पुरुषत्वेन चरणमारभ्य वर्णनमुचितम्, तथापि तापहरणार्थमेतन्निरूपणेन पूर्वं दिनविरहतापं दूरीकर्तुं सन्ध्यायां यदा भगवानागच्छति तदा दूरतः प्रथममत्युच्चमुकुटस्यैव दर्शनम्, तत आननादेभवतीत्यधुनापि तथैवागत्य तापं हरत्वित्यभिप्रायेण मुकुटमारभ्य तापहारकमेव स्वरूपं वर्णयति सुकुञ्चितेति – सुष्ठु कुञ्चिता ये कचास्तैर्ग्रस्त उच्चैर्लसंश्चारुर्मनोहरः शिखण्डो यस्य स तथा । केशानां कुञ्चितत्वेपि यस्य केशस्य यत्र स्थितस्य सुन्दरत्व तत्रैव तस्य स्थितिरित्युपसर्गेण सूचितम् । शिखण्डस्य ग्रस्तत्वं तद्वलितमध्यपतितमूलत्वम्। मूले ग्रस्तोऽग्रतोऽपि ग्रासभियेवाग्रत उच्चैर्निगतो लसन् जातः शोभित इत्यर्थः । शोभितत्वोक्त्या शोभासाधनकुसुमगुञ्जामणिपल्लवादयः सूचिताः । अत एव चारुः सर्वेषां मनोहरः । एतादृशः शिखण्डको मयूरपिच्छकृतमुकुट यस्येति वराङ्गवर्णनम् । रूपप्राधान्यवतः पिच्छस्य सर्वोच्चैर्धारणेनात्र भगवतोपि रूपस्यैव प्राधान्यं पुरुषार्थदानादौ, न तु माहात्म्यज्ञानमपीति ज्ञापितम् । अत एव रूपग्राहकचक्षुष्मतामिदमेव फलमिति "अक्षण्वता" मिति श्लोक एताभिरेव निरूपितम् । यद्वा सुकुञ्चितपदेन केशवर्णनम्, कचग्रस्तपदेन कुसुमानाम्, उल्लसत्पदेन चाकचक्यवद्गुञ्जामणीनाम्, तथा चैभिश्चारुः शिखण्डो यस्येत्यर्थः । तेषां

मुकुटावयवत्वेन तच्छोभाजनकत्वमेव मुख्यम्, न स्वातन्त्र्येण मुख्यतेति न पृथङ्नामनिर्देशः। शोभाजनकत्वं च कुञ्चितत्वादिधर्मैरेवेति तेषामुद्देशः। एतेनैतेषां क्रमोऽपि ज्ञेयः। प्रथमं कचः, तदुपरि तथाभूतानि कुसुमानि, तदुपरि गुञ्जाः, तदुपरि तच्चन्द्रिका इति ॥८॥

एवं मुकुटं निरूप्यालकपंक्तिस्थकर्णोपरिभागभूषणे वर्णयति मत्तेति—

मत्तालिविभ्रमत्पारिजातपुष्पावतंसकः।
आननेन्दुजितानन्तपूर्णशारदचन्द्रमाः ॥९॥

मत्ता ये अलयः तैर्विभ्रमद्विलासं कुर्वदितस्ततः पतत्प (त) त्रं यत्पारिजातपुष्पं तस्यावतंसः कर्णाभरणं यस्य स तथा। एतद्रसेनैव मत्ता इति ज्ञेयम्। तथा च तेनैव मत्ता अपि तत्त्यक्तुमशक्तास्तदामोदलम्पटाः मत्तत्वेन चेतस्ततः पतन्ति। तेनाधारस्यापि तथात्वम्। अवतंसस्य तु तथात्वे महती शोभैव जातेति ज्ञापयितुं विभ्रमत्पदम्। न हि विलासं कुर्वदशोभितं भवतीति भावः। मत्तालयो विभ्रमन्तो यत्रेति वा। मत्तत्वेन सशब्दत्वं स्वाज्ञानं च ज्ञापितम्। एतेन यथापकृष्टखगानपि सर्वोत्कृष्टपारिजातपुष्पस्य केवलदेवभोग्यस्य तत्रापि स्वकर्णाभरणरूपस्य रसं पाययसि, मत्तानपि तान्न निवारयसि, दोषं च न गणयसि, किन्तु तत्कृतशोभामेव बिभर्षि। तथास्मानपि भवद्रसास्वादजनितमदानधुना तदप्राप्त्याऽतथाभूतान् भवदेकशरणान् स्वयं रसं कुतो न पाययसीति हृदयं ज्ञापितम्। भगवदागमनसमये प्रथमतः समुदिताननशोभा एव दृग्गोचरेति समुदितमाननं वर्णयति आननेन्द्विति – आननमेव इन्दुस्तेन जिता अधःकक्षीकृता अनन्ताः पूर्णाः शारदचन्द्रमसो येन इति योजना। अयमर्थः—असंख्यपूर्णशारदचन्द्रमसां सौन्दर्यमेकैकशः पृथक्कृत्यैकस्मिंश्चन्द्रे एव यदि क्रियते, तदा सोऽपि चन्द्रो भगवदाननसौन्दर्यसमानसौन्दर्योऽपि न भवतीति। शरदि गगननैर्मल्यताराादिकृता शोभाऽधिका भवतीति

शारदेत्युक्तम्। इन्दुपदेन तापहारित्वकुमुदविकासकत्वरात्रिसुखदत्व-मार्गप्रकाशकत्वरसाद्दीपकत्वादिनि सूचितानि। तथाच दिवा विरह-तापवत्त्वेन नयनानां कुमुदत्वेन रात्रौ रमणेनान्धकारेऽपि तदर्थं गम-नेन च स्वस्यैतद् हितकारीति भावः सूचितः. एतेनैव परितः स्थित-कचोद्ग्रथितकुसुमानां जितानन्तनक्षत्रत्व द्योतितम्। किञ्च – पूर्वं श्यामामृतरसार्णवत्वेन विग्रहस्य निरूपणेन तदुपरिस्थिताननस्य चेन्दुत्वनिरूपणेन उद्यच्चन्द्रशोभावत्त्व सूचितम्। तेन गोपीकुङ्कुमा-दिना कुण्डलमण्यादिप्रभया वा सर्वदा सरागत्वं सूचितम्। श्यामा-सम्बन्धोति व्याख्याने गोपीजनामृतरसस्यैव अर्णवत्वनिरूपणेन भग-वन्मुखचन्द्रदर्शनादेवास्य वृद्धिरिति सूचितम्। विभावकत्वमीषत्पा-ण्डुरत्वमप्यनेन सूचितम्। तदुक्तम् – "बदरपाण्डुवदन" इति। यदा गोप्यो भगवत्संमुखमुपविश्य भगवच्छिरसि ललाटादौ वा मुकुटादिनिर्माणश्रमजलादिमार्जनादिकं हस्तद्वयेन कुर्वन्ति, बन्ध-विशेषे वा मुखस्य परितो हस्तद्वयमेकं वा भवति, तदात्यलौकिक-परिवेषशोभावत्त्वं सूचितम्। स्थलविशेषचुम्बने कोकरूपकुचद्वय-वियोजकत्वं च। जितत्वनिरूपणेन यथा पराजितस्य सर्वस्वग्रहणे-नातितुच्छत्वं भवति, तथा भगवदाननस्याग्रेऽस्यापि चन्द्रस्य तुच्छत्वं भवतीति ज्ञापितम्, सूर्यस्याग्रे दीपस्येव। एतेनैतच्चन्द्रविरुद्धधर्मवत्त्वं सूच्यते। तेन भगवदाननावलोकनं विना विरहतापेनातिशुष्कतया परस्पर वियुक्तयोः कोकरूपकुचयोस्तादृशयोरेवाननहृदयकमलयोः दर्शनमात्रेणातिप्रमोदसश्लेषकारित्वविकासकत्वाभिसारानुकूलत्वा-दीनि ध्वनितानि। अत एव जित्वा लाञ्छितान् कृत्वा व्यसृज-दित्यपि ध्वनिः। यद्वा – आननेन्दुना जिता वशीकृता या गोप्यस्तासु विरहतापनिराकरणेन तथेति। तथा च यथा तरणिजनिततापमेक एवेन्दुर्दूरीकरोति, तथा भगवान् स्वविरहतप्तानां तापदूरीकरणार्थं दर्शनाश्लेषादिनाऽसंख्यचन्द्रवत् शीतल इति भावः॥६॥

एवं समुदितमाननं वर्णयित्वा प्रत्यवयववर्णनं करोति सार्धपञ्चभिः श्रीमदिति—

श्रीमल्ललाटपाटीरतिलकालकरञ्जितः ।
लीलोन्नतभ्रूविलासो मदालसविलोचनः ॥१०॥

श्रीमति ललाटे पाटीरस्य चन्दनस्य यत्तिलकं तेनालकैश्च कृत्वा रञ्जित इत्यर्थः । ललाटे तिलकादिकृतैव न शोभा, किन्तु सः स्वतोऽप्यतिसुन्दर इति ज्ञापनार्थं श्रीमत्पदम् । तिलकं भ्रूमध्यकेशपर्यन्तम् । तत्केवलपाटीरप्रयोगात् श्वेतं पीतं वा । केवलप्रयोगः प्राधान्येन । अलकतिलकयोः सामानाधिकरण्यनिरूपणेन यथा अलका आकर्णं स्थितास्तथा भ्रूमध्यकेशपर्यन्तं समानरेखाद्वयात्मकं तिलकं विधाय पुनस्तिर्यक् विचित्ररेखाभिराकर्णं कृतमिति ज्ञायते । मुखाम्बुजस्य परितः पंक्त्याकारेण स्थिताः कुञ्चिताः कचा अलकाः । तथा चैताभ्यां रञ्जितो, यथा मञ्जिष्ठेन वस्त्रं तथेत्यर्थः । प्रोञ्छनमार्जनादिनापि तयोरतथाभावो न भवतीति भावः । यद्वा – तथाभूताभ्यां ताभ्यां कृत्वा रञ्जितः सर्वेषां रागविषयीभूत इत्यर्थः । यद्वातथाभूततिलकश्चासावलकरञ्जितश्चेति कर्मधारयः । अत्रापि रागविषयत्वमेवार्थः । तथा च रागस्य जीवधर्मत्वेन तत्स्वरूपवन्मधुपत्वं ध्वन्यते अलकानाम् । तेन भगवन्मुखस्याब्जत्वं ध्वन्यते । तत्र तिलकस्य रेखाणां च पीतत्वेन केसरपरागत्वे ज्ञये । रागविषयत्वनिरूपणेन सरसत्वं ज्ञापितम् । तेषां सरस एव तस्मिन्नासक्तेरतथाभूते विरक्तेः । शश्वत्सुस्थिराणां तथात्वनिरूपणेन च सर्वदा सरसत्वं ज्ञापितम् । तेन प्रसिद्धकमलविलक्षणत्वं ज्ञायते । एतेन यथा सरस एव देशे कमलं तिष्ठति, सर्वदा प्रादुर्भवति च, तथा प्रेमरससरसहृद्येवैतस्यापि प्राकट्यं स्थैर्यं च, नान्यत्रेति । सर्वदा कोकरूपगोपीकुचसाहचर्यसौगन्ध्यकोमलत्वादीनि च सूचितानि । क्रमप्राप्तां भ्रुवमाह

लीलेति--लीलायां वेणुवादनलीलायामुन्नता या भ्रूस्तस्यां मन्द्र-मध्यतारस्वरानुकृतिरूपो विलासो यस्य स तथा । अथवा तदैव स ेतस्थलादिसूचनं विलासः । यद्वा मिथ्याकोप एव लीला । तेनोन्नतायां तस्यां स यस्य तथेति । तदा विलासश्चान्तःकोपाभावेन किञ्चिद्धास्यं तदभिनयेन च किञ्चिद्वक्रत्वम् । लीलयैवोन्नता भ्रूरित्य-प्यर्थो ज्ञेयः । न तु कदाचिदपि तथेति भावः । यद्वा लीलायां क्रीडायामतिशयितमदनमदेनोन्नता या भ्रूस्तस्यां बन्धादिसूचन-लक्षणो विलासो यस्येत्यर्थः । यद्वा लीलया रात्रिजनितसुरतक्रीडया कृत्वा प्रातरुन्नता या भ्रूस्तस्यां विलास आलस्यादिभावो यस्येति । रजनिजागरमुकुलायमाननयनयोरतिबलेन विकासने भ्रुवस्तदोन्नत-त्वम् । यद्वा लीलासु गोपैः सह क्रियमाणासु मध्ये उन्नत उत्कृष्टो भ्रूविलासः सङ्केतस्थलादिसूचनं यस्य स तथेत्यर्थः । अत्यार्त्या स्थातुमशक्तौ गोपसहितस्यापि प्रियस्य समीपमागतायां राधायां भ्रुवैव सङ्केतादिसूचनेन समाधानं कृतवानिति तत्स्मृत्वोक्तमधु-नापि करोत्विति हृदयेन स्वस्यैतदेव हितमिति सर्वोत्कृष्टत्वनिरूपण-मस्मिन् । क्रमप्राप्ते नेत्रे वर्णयति मदेति । असङ्कुचगोपीमुखाम्भोज-मधुपानजातो यो मदस्तद्युक्ते तेन वा अलसे विलोचने यस्येत्यर्थः । तदेकपरतातिरिक्तकार्याक्षमत्वमप्यलसपदार्थो ज्ञेयः । तेन भगवन्नय-नयोः सततं गोपीपरत्वं गोपीनां चातिसरसत्वं सूच्यते । यत्र नय-नाभ्यामपि दूरतोऽपि पाने मदजनकत्वं, तत्र साक्षादधरादिसुधापाने किं वक्तव्यमिति निगूढाशयः । अत एव "बहु मनुते ननु ते तनु-सङ्गतपवनचलितमपि रेणुं" "त्वमसि मम जीवन" मित्यादीनि जयदेवोक्तिष्वपि वचनानि विलसन्ति । न च कविचातुर्यमेव तत्रेति वाच्यम् । तस्य वस्तुन एव तथात्वात् । किञ्च, महतामेव कृतसुकृ-तानां भगवदनुगृहीतानामेवात्र विश्वासेन बहिर्मुखस्याविश्वासेपि न नः कापि हानिः । खेदमात्रं परमिति संक्षेपः । यद्वा – मदो गोपीनां

मानस्तस्मिन्नलसे अक्षमे विलोचने यस्येति । पूर्णमेव परं मानादिः । भगवद्दृष्टिपातमात्रेणैव विगतमानाः सर्वाः भवन्तीति तथा । यद्वा मदो गर्वस्तेन चालसे विलोचने यस्येति मध्यमपदलोपी । गर्वो लोचननिष्ठ एव । स च कमलखञ्जनमदनजयेनेति भावः । यद्वा मदालसा गोप्यस्ता विलोचनयोर्विलोचने वा यस्येत्यर्थः । यदा स्वयं मिथ्याकृतावधिना भगवता लीलासङ्केतस्थलस्थेन दूतिकायां प्रेषितायामपि गोप्यो न मन्यन्ते, तदा तद्विरहेण सर्वत्र गोपोदर्शनेन तथा । तदुक्तं केनचित् "पर्यङ्के से"त्यादिना "सा सा सा सा जगति सकले कोयमद्वैतवाद" इत्यन्तेन पद्येन । एतेन तदा तादृशो भवानधुनास्मद्वियोगं भवद्विरहजसन्तापं चास्माकं कथं सहत इति हृदयं सूचितम् ॥१०॥

अत्र क्रमप्राप्तयोरपि नयनयोः स्मृतावनयोः सौन्दर्यातिशयस्य प्रातर्दृष्टत्वेन तत्सामयिक एव ते वर्णयति । तदा च प्रथममालस्येन तयोर्मुकुलितत्वेन पश्चादीषत् प्रसृतदृष्टित्वेन पूर्वं तादृशे ते वर्णयित्वा दृष्टिं वर्णयति आकर्णेति—

आकर्णरक्तसौन्दर्यलहरीदृष्टिमन्थरः ।
घूर्णायमाननयनः साचीक्षणविचक्षणः ॥११॥

आकर्णरक्तेत्यत्र कर्मधारयो नयनवाचकत्वं च ज्ञेयम् । तथा च कर्णावधिके ईषद्रक्ते ये लोचने तत्सौन्दर्यलहरीरूपैव या दृष्टिः सा मन्थरा अल्पगतिमती यस्येत्यर्थः । अत्र सौन्दर्यस्यैव हृदि स्थितत्वेन तत्र चोक्तधर्मद्वयस्यैव प्राधान्यमिति तयोरेव ग्रहणं, न नयनयोः । दृष्ट्या लहरीत्वनिरूपणेन सौन्दर्यस्य समुद्रत्वं ध्वनितम् । तेन सौन्दर्यस्य निःसीमत्वं, दृष्ट्याश्च सरसत्वं ज्ञापितम् । यत्र दृष्टिः पतति तं देशं शीतलं यथास्थित सरसं च करोतीति सूचितम् । तरङ्गशब्दं पुल्लिङ्गं विहाय स्त्रीलिङ्गलहरीपदप्रयोगेणान्तरङ्गकार्य-

करणं स्वसजातीयत्वेन स्त्रीष्वेवैतस्या दृष्टेः (यथा पातनं), न तथान्येष्वपीति ज्ञापितम् । एतेन दूतीत्वं दृष्टेः गोपिकासमानयने सूचितम् । अत एव गोप्यो भगवद्दृष्टिपातमात्रेण तद्वशगाः सत्यो भजन्ते व्रजनाथम् । न दूतिकान्तरप्रेषणमपेक्षन्त इति निगर्वः । तेन भगवदङ्गैकदेशसौन्दर्यैकदेशेनैव यत्र सर्वं विहाय गोप्यो भजन्ते, तत्र सर्वाङ्गसौन्दर्यं दृष्ट्वा भजने किं चित्रमिति भावः । सौन्दर्यलहरीत्व-निरूपणेन यथा दुग्धाम्भोधितरङ्गा दुग्धरूपा एव, तथा दृष्टिरपि सौन्दर्यरूपैवेति सूचितम् । पूर्व-भाव-योग्य-मन्थरपदस्यान्ते निरूपणेन रात्रिजागरणादिना भगवान् परं तूष्णीं तदा तिष्ठति । नयने तु तादृशगत्याप्यनेकं कार्यं कुरुत इति सूचितम् । लहरीपदेन प्रान्तदृष्टिः सूचिता । लहरीणामब्धिप्रान्तयोरेव भावात् । यद्वा पूर्वोक्तलहरीरूपा या दृष्टिर्गोपीनां सा मन्थरा येन स तथा । नयन-वर्णनप्रकरणत्वाद्यदा भगवन्नयनदर्शनानन्तरमेवातिसौन्दर्यवशेन तत्रैव गोपीदृष्टिः स्थगितासीत् तत्स्मृत्वेदमुक्तमिति ज्ञेयम् । गोपी-नयनानि भगवन्नयनभावापन्नानीत्यपि सूचनार्थं भगवन्नयनवर्णन-प्रकरणे तासां नयनवर्णनम् । स्वभावचपला अप्यशक्यस्थिरत्वा अपि तद्दृष्टयो यत्र मन्थरा भवन्ति तत्रान्येषां का वार्तेति । भगवत्य-लौकिकधर्मवत्त्वं लहरीपदेन सूचितम् । भगवद्दृष्टिवर्णनपक्षेपि तादृशी दृष्टिर्मन्थरा यस्येत्यत्र तासां भगवानिव मन्थरत्वहेतवो गोप्य एव । तथाचारादुक्तालौकिकधर्मवत्त्वमेतास्वपि सूचितमिति संक्षेपः । यद्वा आकर्णा भगवतः कर्णपर्यन्तं वर्तमाना या गोप्यस्तासु रक्ता चासौ तादृशी दृष्टिश्चेति कर्मधारयः । कर्णपर्यन्तं वर्तमानत्वं विप-रीते । तथा च तत्कालीनसौन्दर्यलहरीरूपा रतिरभसवशेनातिचञ्चला या दृष्टिः सा भावाधिगमसमये मन्थरा यस्येत्यर्थः । एवं भोगावसान-सामयिके नयने वर्णयित्वा तदुत्तरसामयिके वर्णयति घूर्णायमानेति । अतिशयेन गोपीसहस्रसम्भोगरसासवपानेनैव तथात्वम् । तत्त्वं च

पक्ष्ममध्य एवेतस्ततः सालस्यगतिविशेषवत्त्वमेव । यद्वा घूर्णा घूर्ण-(वर्त) माना मानवत्यो गोप्य इति यावत् । ता अयमाना गतिमत्यो येन स तथा । मानसमयेपि यदैव भगवन्नयने पश्यन्ति, तदैव स्थातुं न शक्नुवन्ति, तेन मानाच्चलन्ति, निरभिमाना भवन्तीत्यर्थः । भगवन्मिलनार्थं गतिमत्यो भवन्तीति वा । क्षणानन्तर भगवान् किञ्चिद्दृष्टिं प्रसारयतीति मत्वाह साचीक्षणेति । साचीक्षणमीषद्वक्रेक्षणं, तेन कृत्वातिविलक्षणोऽशक्यनिर्वचनतत्कालीनसौन्दर्य इत्यर्थः । यद्वा तादृशेन कृत्वा विगतानि लक्षणानि चेष्टादीनि चिह्नानि येन स तथा । एतादृशनयनदर्शनानन्तरमेव सर्वे चित्रिता भवन्तीति तथा । यद्वा साचिः अल्पमीक्षणं यस्मिन्समये स प्रातःसमय इति यावत् । तदा कज्जलकुङ्कुमरेखादिना विशिष्टानि लक्षणान्यङ्गानि यस्य स तथेति । तदैव विलक्षणोऽशक्यनिर्वचनसौन्दर्य इति वा । यद्वा साचीक्षणपदेन पूर्वन्यायेनान्धकाररात्रिरुच्यते । तथाच तस्यां वेः पक्षिणो मयूरादेर्लक्षणं तद्वत् कूजनं यस्येत्यर्थः । एतच्च यदा दिवसे कृतसङ्केतो रात्रौ तादृशनिबिडनिकुञ्जस्थो गोपीः प्रतीक्षते भगवानेताश्च नीलनीव्यादिपरिधानेन सज्जीभूता गृहादागच्छन्त्यो रात्र्यन्धकारेण गहनवनत्वेन च तत्स्थलं ज्ञातुमशक्ता भवन्ति, तदा भगवानन्याज्ञानार्थं कृतसङ्केतमेव मयूरादिरवमनुकरोतीति तथा । तदैव तादृशायासेनाप्यस्मदिष्टकारी, अधुना कुतो नेति भावः । मार्गप्रापणनयनकार्यकर्तृत्वेन कूजनादेर्नयनप्रकरण एवोक्तिः । यद्वा मानेनेषद्वक्रेक्षणा या गोप्यस्तासु विलक्षणोऽतिचतुरो मानापनोदनादावित्यर्थः ॥११॥

तत्सामयिकीं स्वावस्थां स्मृत्वाह अपाङ्गेति—

अपाङ्गेङ्गितसौभाग्यतरलीकृतचेतनः ।
ईषन्मुद्रितलोलाक्षः सुनासापुटसुन्दरः ॥१२॥

अपाङ्गः स्वभावेनेषद्वक्रनयनाञ्चलेक्षणं तद्रूपमेव यदिङ्गितं चेष्टितं,

तेन यत्सौभाग्यं सौन्दर्य, तेन तरलीकृता चेतना सर्वेषां चैतन्यं येन स तथा। एतादृशसौन्दर्यदर्शनानन्तरमत्यार्त्या प्राप्त्या च मूर्च्छाया-मपगमस्ततश्चिरेण तदपगमे समागम एव तरलत्वं चेतनायाः। यद्वा अपाङ्गानां यदिङ्गितं सुरतेच्छारूपभावविशेषज्ञापकालसवलितत्वादिः! स एव यत्सौभाग्यमस्माकं गोपीनां, तेन तरलीकृताः पूर्व-सिद्धपातिव्रत्यकुलधर्मादिशून्याः कृता यास्ता एव तासां चेतनः प्राणरूप इत्यर्थः। एतेन भगवत्प्राप्तावेव तासां जीवनं, नान्यथेत्युक्तं भवति। अत एवान्तर्गृहगतिजातप्रतिबन्धानां तासां तथा। अत एव ताभिरप्युक्तं "भवदायुषां न" इति। यद्वा – तरलास्तरङ्गास्तद्वां-स्तरली समुद्र इत्यर्थः। तथाचापाङ्गेङ्गितरूपो यः सौन्दर्यसमुद्रस्तेन कृता चेतना येन स तथा। भगवद्विरहेणापगतचेतनासु गोपीषु भग-वानागत्य यदव तादृशापाङ्गेन निरीक्षते, तदैव सर्वासां चैतन्यं भव-तीति तथा। कृतपदेन अस्याश्चेतनाया नूतनत्व ध्वन्यते। यद्वा अपाङ्गेङ्गितश्च सोभाग्यश्चेति द्वन्द्वः। ताभ्यां तरलीकृता चेतना बुद्धिर्येनेत्यर्थः। प्रातरन्यगृहादागते भगवति मानेन अहं न वदि-ष्यामि किञ्चिदिति कृतायामपि बुद्धौ भगवदपाङ्गसौन्दर्याभ्यां बुद्धे-स्तथा न स्थैर्यं भवतीति तथा। यद्वा – अपगतमङ्गं यस्य सोपाङ्गो-नङ्ग इति यावत्। तथाच तत्सम्बन्धि यदिङ्गितं क्रीडारूपचेष्टितं तेन जनित तद्रूपमेव वा यत्सौभाग्यमस्माकं तस्मिन्सति तरलीकृता चेतना सावधानता येनेत्यर्थः। महासुरतक्रीडाभिरतिश्रान्तानां रज-निजागरजनितनिद्रास्खलद्गतीनां गोपीनां न तथा सावधानतेति तथा। एवमुक्त्वा नयनसौन्दर्ये निरूप्यमाणे यदा कदाचिदखिलगोपी-सदस्युपविश्य बाहुप्रसारादिना हास्यं कुर्वन् लीलया हास्यविशेषार्थं तासु सन्तोषार्थमापन्ने नेत्रे निमील्येतस्ततो गोपीरपश्यत्तदा सौन्दर्य-विशेषोऽनुभूत इति तत्स्मृत्वाह ईषदिति। अल्पमुद्रिते लोले चञ्चले वाक्षिणी यस्य स तथा। यद्वा ईषन्मुद्रितत्वं सुरतान्ते लोलत्वञ्च

नितम्बिनीकदम्बस्य "श्लिष्यति कामपी"त्यादिगीतोक्तप्रकाररमणे । तथा चेषन्मुद्रिताक्षो लोलाक्ष इत्यक्षपदावृत्त्या नामद्वयं पर्यवस्यति । यद्वा लोला लक्ष्मीः शोभेति यावत् । अग्रिमपदं भावप्रधानम् । तथाचेषन्मुद्रितत्वकृता या शोभा तद्युक्ते ते यस्येत्यर्थः । दीर्घनयनयोरीषन्मुद्रणेधिका शोभानुभवसिद्धा । यद्वा पूर्वमनागतासु गोपीषु रहसि तासामागमनसमये मिथ्याशयनं विधायोपरिसूक्ष्मवस्त्रं गृहीत्वेषन्निमील्य नेत्रे तासामज्ञानार्थमेताः किं करिष्यन्ति किं वदिष्यन्तीति ज्ञापनार्थं तादृश एव लोलाक्षो भवतीतस्ततः पश्यति, तदा भगवन्तं शयानं मत्वा स्वरहःकथामन्योन्यं चुम्बनाश्लेषादिकं च कुर्वन्ति । तदा भगवानकस्मादुत्थाय निद्रां मत्वा स्वचुम्बनं कुर्वाणां काञ्चिद्धृत्वा चुम्बति, ताभिरन्योन्यमुक्तं चानुवदति, तदा सर्वासामन्योन्येक्षणपूर्वः सव्रीडहासयुक्तो महान् रस उत्पद्यत इति तत्स्मृत्वोक्तमिदम् । यद्वा यदाञ्चलेनेषदाच्छन्न ईषत्प्रकटे राधाहृदयप्रदेशे सति भगवान् वारम्बारमपश्यत् । तत्स्मृत्वोक्तमीषन्मुद्रितेति । ईषदाच्छन्ने गोपीहृदयमण्डले लोलाक्ष इत्यर्थः । क्रमप्राप्तां नासिकामाह सुनासेति । शोभने ये नासापुटे ताभ्यां कृत्वा सुन्दरोऽतिमोहन इत्यर्थः । शोभनत्व कनकसूत्रितमुक्ताफलवत्त्वं, साम्योन्नतत्वे च, पुटपदेन पर्णद्वयकृतं रसद्रव्यस्थापने पाने वा साधनीभूतं वस्तूच्यते । इह च तत्त्वनिरूपणेनोभयपार्श्वावयवयोरत्र पर्णत्वं तद्वत्पत्तलत्वञ्च नासायाः सौन्दर्यामृतस्थानभूतत्वञ्च ध्वन्यते । अत एव तत्कृतं सौन्दर्यमेव निरूपितमग्रे ॥१२॥

एवं सौन्दर्ये निरूप्यमाणे कदाचित्पूर्वं नासामुक्ताफलकुण्डलप्रभाभ्यामतिशयितसौन्दर्यं दृष्ट्वा सहजसुन्दरे गण्डमण्डले चुम्बनमकरोत्तत्स्मृत्वा अधरात्पूर्वं गण्डमण्डलं निरूपयति। एतस्य च कुण्डलतत्प्रभाव्याप्तत्वेन तयोश्च कर्णस्थत्वेनैकस्मरणे सम्बन्धित्वेन त्रयमपि स्मृत्वाह गण्डेति—

गण्डप्रान्तोल्लसत्कर्णमकराकृतिकुण्डलः ।
प्रसन्नानन्दवदनो जगदाह्लादकानन: ॥१३॥

गण्डयोर्यौ प्रान्तदेशौ तत्रोल्लसद्देदीप्यमाने कर्णसम्बन्धिमकराकृतिकुण्डले यस्य स तथा । कर्णविशेषणं वोल्लसत्पदम् । तेन कर्णयोः कुण्डलकृतैव न शोभा किन्तु स्वतोप्यतिसुन्दरे त इति ज्ञापितम् । यथा नयनयोरतिसरसत्वं न तथा कर्णयोरिति तथान्यत्राननुभवेन कस्यचित् कुबुद्धिः स्यात् तन्मा भूदिति कर्णयोर्मकराकृतिकुण्डलधारणम् । तेषां सरस एव देशे स्थितेस्तत्साम्यवतोस्तयोः सततं तत्र स्थितया तयो रसमयत्वं ज्ञाप्यते । तेन यथा नेत्रमात्रदर्शनेपि महात्रसस्तथा कर्णयोरपीति भावः । ततश्चुम्बनेनातिप्रसन्नस्य भगवतः तादृशमाननं दृष्ट्वात्यानन्दिता स्वयमप्यभूदिति तत्स्मृत्वाह प्रसन्नेति – प्रसन्नमानन्दरूपं च वदनं यस्य स तथेत्यर्थः । कदाचित्स्वस्य कृतापराधत्वेपि भगवदाननं प्रसन्नं दृष्ट्वा आनन्दिताभूत्तत्स्मृत्वा वेदमुक्तम् । एतेन केनचिदपराधेनाधुना भगवान्न मिलतीति शङ्का निरस्ता । यद्वा – प्रकर्षेण सन्नाः सूक्ष्माः कृशा इति यावत् । तथा चैतादृश्यो या गोप्यस्तासामानन्दरूपं वदनं यस्येत्यर्थः । विरहेणातिकर्शितानां तासां भगवन्मुखावलोकनेनैव महानानन्द उत्पद्यत इति तथा तेन प्रकृतोपयोगीदं नाम । यद्वा – प्रसन्नः प्रकट इत्यर्थः । तथाच तादृशानन्दरूपमेव वदनं यस्य स तथेति । यद्वा— प्रसन्ना या गोपिका तयानन्दयुक्तं वदनं यस्य स तथा । यदा कदाचित्पूर्वं समयबन्धं कृत्वान्यत्र समग्रां निशां नीत्वा प्रातः समागते भगवति मानादिनाप्रसन्नायामिव जातायां भगवता "वदसि यदि किञ्चिदपी"त्यादिगीतार्थानुकरणेन कृते मानापनोदने पूर्ववदुत्फुल्लवदना प्रकटानुरागाभवत्तदा भगवानप्यानन्दितोभवदिति तत्स्मृत्वोक्तम् । अधुना मत्प्रार्थनायामपि कुतो न करोतीति भावः । एवमेता-

दृशस्मरणेनातिसन्तापे जातेऽत्यार्ता तदपगममिच्छन्ती भगवदाननस्यैव चन्द्रत्वं निरूपयति । एतदेव मम तापापहारि, न त्वन्यदपीत्यभिप्रायेण । अत एव न पौनरुक्तिदोषः । जगदिति – जगतः सर्वस्यैवाह्लादकर्तृ आननं यस्य स तथा । सर्वेन्द्रियान्तःकरणव्यापकानन्दविशेष आह्लादः । अस्य सर्वत्रैवैतत्कर्तृत्वं कोकरूपगोपीहृद्यसंश्लेषकत्वेन, गोपीमुखकमलादिविकासकत्वेन, रात्रावपि वृन्दावनस्थकोककमलाद्यानन्ददातृत्वेन, तेन प्रसिद्धचन्द्रादतिशयः सूचितः । तस्मिन्नेव तदभावात् । एतेन यथा स तदर्थमेव सृष्टस्तथा भगवन्मुखचन्द्रोऽस्मदाह्लादनार्थं प्रकटः, स चेत्स्वकार्यं करिष्यति, न तदा स्वावतारप्रयोजनमपि न सेत्स्यतीति भावः । एतदेवोक्तं "व्यक्तं भवानि"ति श्लोकेन "व्रजवनौकसामि"त्यादिना च । जगत आह्लादो येन तादृग् वाननं यस्येत्यर्थः प्रकरणविरोधादुपेक्ष्यः ॥१३॥

एवमाह्लादकत्वेन चन्द्रत्वं तस्मादतिशयश्च निरूप्य अतः परं प्रकाशकत्वेनापि तद्द्वयं निरूपयति सुस्मेरेति—

सुस्मेराधृतलावण्यप्रकाशीकृतदिङ्मुखः ।
सिन्दूरारुणसुस्निग्धमाणिक्यदशनच्छदः ॥१४॥

सुस्मेरैरतिसुन्दरैर्मदनचन्द्रादिभिराधृतं यल्लावण्यं सौन्दर्यं प्रकरणान्मुखारविन्दस्यैव तेन प्रकाशीकृतानि प्रकाशयुक्तानि कृतानि दिङ्मुखानि दशापि दिशो येनेत्यर्थः । चन्द्रादिकृतप्रकाशयुक्तान्यपि तानि भगवन्मुखारविन्दतादृशप्रभयैव तादृशतद्युक्तानि भवन्तीति ज्ञापनार्थं सुस्मेराधृतेति विशेषणम् । अन्यथा लावण्येत्याद्येव वदेत् । दिङ्मात्रे वक्तव्ये मुखोक्त्या तासामपि स्त्रीत्वेन यत्र तासां मुखानि प्रकाशयुक्तानि करोति तत्रास्माकं मुखानि कुतो न करिष्यतीति भावः सूचितः । तेन स्त्रीणामेव हितकारीति सूचितम् । तेन स्वस्य भगवत्संगाशालतावलम्बनकदम्बविटपीयतीदं नाम । यद्वा – सुस्मेरैः

पूर्वोक्तैरेव आ ईषद्धृतं लावण्यं यस्य तत्तथा। तथाच प्रकरणात्ताद्दृङ्मुखारविन्देनेत्यत्र पूर्ववत्। मन्मथादयो भगवन्मुखारविन्दसौन्दर्यकोट्यंशांशधारणेन लोकेऽतिसुन्दरा इति कथ्यन्त इत्यर्थः। एतेन तमिस्रायामपि रमणे भगवतो विभावकत्वेनापि न चन्द्रस्यापेक्षेति सूचितम्। यद्वा – सुस्मेरा गोप्यस्ताभिः कृत्वा यद्भगवता स्वस्मिन् धृतं लावण्यं तेन तथेति। गोपीजनवेष्टितस्य गोपीकृतशृङ्गारस्य तत्सम्भोगजनितकुङ्कुमकज्जलादिरेखावतो वा यल्लावण्यं तदत्र विवक्षितम्। यद्वा – सुस्मेरानिमित्तं यद्धृतं लावण्यमित्यर्थः। तथा चोक्तम् "तासामाविरभूदि"त्यनेन। "अनुग्रहाय भक्तानामि"ति श्लोकेन च। यद्वा – पूर्वनाम्नाह्लादस्मरणेन कदाचिद्भगवान् राधिकामिलनाह्लादेन सहासवदनोभूत्तत्सामयिकं स्मृत्वाह सुस्मेरेति पूववत्। अत एव प्रकाशवर्णनम्। अत एव तदा दन्ताः प्रकटा दृष्टा इत्यधरश्च तथा दृष्ट इति तदेवाह सिन्दूरेति। स्निग्धानि चिक्कणानि शोभनानि स्नेहविषयाणि वा यानि माणिक्यानि आरक्ता मौल्यमणिविशेषाः तत्सदृशानि यानि दशनानीत्यन्तेन दशनवर्णनम्। तथा च सिन्दूरवदरुणः सुस्निग्धमाणिक्यदशनानां छद आच्छादकोऽधरो यस्येत्यर्थः। यद्वा – सिन्दूरेत्यादिपदान्युभयत्र सम्बध्यन्ते। तथाच पूर्वोक्तरूपाणि दशनानि तच्छदश्च यस्येत्यर्थः। अधरे माणिक्यदृष्टान्तश्चाकचक्येन। एतेन यथा मणिः प्रियः सर्वस्यापि, परन्तु मर्मज्ञोऽस्य कश्चिदेवैतद्वार्ताभिनिविष्टः परीक्षकजनः, तथा भगवानपि प्रियः सर्वस्य, परं मर्मज्ञा महासुरतसञ्जातदन्तक्षताधरपाना गोप्य एवेति सूचितम्। तेन स्नेहातिशयोपि सूचितः। सिन्दूरदृष्टान्तेनैतद्रहिताया दुर्भगात्वं सूचितम्। यद्वा – सिन्दूरारुणो यः अधरः तस्मिन् स्निग्धाः स्नेहवत्यो गोप्य इति यावत्। तासु माणिक्यरूपदशनानां छदः समूहो यस्य। दशनानि तच्छदश्च यस्येति वार्थः। अत्र माणिक्य-

पदेन यथ. माणिक्याभरणैरधिका शोभा, तथा दशनाधरचिह्नै रपीति सूचितम् ॥१४॥

एवं भगवता क्रियमाणे राधया सीत्कारे कृते "व्यथते कि"मिति यदाब्रवीद्भगवांस्तदा तस्तादप्यधिकं सुखमनुभूतमिति तत्स्मृत्वाह पीयूषेति—

पीयूषाधिकमाध्वीकसूक्तः श्रुतिरसायनः ।
त्रिभङ्गललितस्तिर्यग्ग्रीवस्त्रैलोक्यमोहनः ॥ १५॥

पीयूषादमृतादप्यधिकं मधु यस्मिन्नेताहृशं तद्रूपैव वा शोभनोक्तिर्यस्येत्यर्थः । पीयूषादाधिक्यं तदसाध्यसाधकत्वम् । एतदेव "सिञ्चाङ्ग न" इति श्लोके निरूपितम् । "त्वदङ्गसङ्गामृतमात्रे"ति । "एतावत्यतनुज्वर" इति च गीतगोविन्देपि निरूपितम् । देवामृतासाध्यानङ्गजीवनत्वं च स्पष्टम् । उक्तौ शोभनत्वं भगवतोच्चारणे क्रियमाणे दरप्रकटरदप्रभापङ्क्त्या नवमणिमयतोरणशोभावत्वम् । मङ्गल एव तोरणविधानात् । एवमुक्तिस्मृतौ यदा कदाचिद्विरहेण मूर्छितासु गोपीषु भगवानागत्य मधुरया गिरा तामपाकरोत् तत्स्मृत्वाह श्रुतीति । श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं तत्सम्बन्धी रसायनो महौषधरूप इत्यर्थः । यद्वा - पीयूषेत्याद्येकमेव नाम । तथा च ताहृशोक्त्या गोपीनां श्रुतिषु तथेत्यर्थः । यद्वा, सूक्त्या माध्वीकत्वनिरूपणेन मुखस्यातिसरसकमलत्वं ध्वन्यते । ताहृशस्य तस्य सभ्रमरत्वनियमेनात्रापि नयनचुम्बनसञ्जातनीलिमाधरत्वं सूच्यते । अत एवावधि कृत्वान्यत्र गते भगवत्यत्यार्त्या मूर्छितायां तस्यां प्रातस्ताहृश आगत्य वचनैरेव समाधत्त इति महौषधरूपत्वमपि सङ्गच्छते । ताहृशसूक्तिरूपो यः श्रवणसम्बन्धी रसस्तस्यायनरूप इति वार्थः । पुल्लिङ्गप्रयोगश्छान्दसः । एवं सूक्तिनिरूपणे रासपूर्वकालीनप्रथमागतगोपीविषयां "स्वागतं वो महाभागा" इत्याद्युक्तिं भगवतः सस्मार, तदा च भग-

वान् वचनेन निवर्तयन्नपि तत्कालीनत्रिभङ्गस्वरूपेण मोहयित्वा स्वकीयाः कृत्वा रसं दत्तवानिति तथैवाधुनापि करोत्वित्यभिप्रायेण तदेव स्वरूपमाह त्रिभङ्गललित इति । त्रिष्वङ्गेषु ग्रीवाकटिचरणेषु यो भङ्गोऽन्यथाभावः, त्रिधा वा भङ्गस्त्रिभङ्गस्तेन ललितोऽतिसुन्दर इत्यर्थः । तदा वेणुनाद एवातिभरेण तस्य च वामपरावृत्तस्य स्त्री-मोहकत्वेन तदा तथैव भगवता कृतत्वेन तत्र च ग्रीवायास्तिर्यङ्-नियमेन तत्कृतशोभातिशयं स्मृत्वाह तीर्यग्ग्रीव इति । अत एव श्रीभागवते "वामबाहुकृतवामकपोल" इत्यादिना देवस्त्रीमोहको वामपरावृत्त एव वेणुनादो वर्णितः । ननु द्वयोश्चतुर्षु वाङ्गेषु भङ्गित्वं न कुत इत्याशङ्क्य त्रिभङ्गतात्पर्यरूपं नामाह त्रैलोक्य-मोहन इति । अत्रायमर्थः लोकत्रयरूपाङ्गत्रयेऽन्यथाभावसम्पादनेन लोकत्रयस्यार्यमार्गरूपपूर्वरूपत्यागरूपान्यथाभाव एव सम्पाद्यते । अपि च । त्रिष्वप्यङ्गेष्वेकैकमप्यङ्गं त्रैलोक्यस्यापि तथा करणे समर्थम् । तथाहि त्रयीरूपत्रिवलीवत्कण्ठेऽन्यथाभावसम्पादनेन त्रैलोक्यस्यापि त्रयीनिरूपितकर्ममार्गत्याजनम् । निर्गुणोपासक-समाधिरूपकटिनाभ्योस्तथात्वसंपादनेन तस्य ज्ञानमार्गत्याजनम् । अतिसूक्ष्मतया शून्यतायामेव तद्रूपतेति न भागवतविरोधः । मर्यादा-भक्तिरूपदक्षिणचरणकमलस्य अन्यथाभावसम्पादनेन पुष्टिरूपसुस्थि-रवामपदाश्रितीकरणेन च मर्यादारूपविहितभक्तित्याजनं पुष्टिरूप-कामादिमार्गेण भजनं च सम्पाद्यते । अत एव गोपीनामेवार्थं इदं स्वरूपं प्रकटीकृतमिति ज्ञेयम् । अन्यत्र मर्यादादित्यागाभावात् । अनेन स्वरूपेणान्येषामपि मनोहरणं तु यथा कामिनी कामुकानु-रञ्जनार्थमेव मृगमदलेपं कुरुते, नान्यार्थं, परन्तु तस्याप्रतिबध्यस्व-भावत्वेन गन्धः सखीनामप्यनुभूतो भवति, परं तद्भोक्ता स एव तथेति निगर्वः ॥१५॥

एवं स्वमोहकरूपमुक्त्वा तत्सहायीभूताधरामृतसहितवेणुनादं

वर्णयति कुञ्चिताधरेति—

कुञ्चिताधरसंसिक्तकूजद्वेणुविनोदवान् ।
कङ्कणाङ्गदकेयूरमुद्रिकादिलसद्भुजः ॥१६॥

कुञ्चितो योऽधरस्तेन सम्यक्सिक्तः, अत एव कूजन् शब्दायमानो यो वेणुस्तस्मिन्ये विनोदा विविधमूर्च्छनादयस्तद्वानित्यर्थः । वादनप्रकारविशेषेण कासाञ्चिदाह्वानं कासाञ्चिन्मोहनं कासाञ्चिज्जडता कासाञ्चिच्च तन्यमिति वा विनोदशब्दार्थः । तदुक्तं "निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनमि"ति "कुजगतिं गमिता न विदामः" "अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणामि"त्यादिना च । अधरस्य सेककरणत्वनिरूपणेन अमृतत्वं ध्वनितं, सेकस्य द्रवद्द्रव्यसाध्यत्वात् । अत्राऽन्यस्य तस्यासम्भवेन तत्त्वमेव निष्प्रत्यूहम् । स्वयं साक्षात्सिक्तवेणुजनितशब्दश्रवणेनाप्यस्मास्वपि सार्द्रताकरणं सेके सम्यक्त्वम् । यथा कोकिलादिकूजनेन रसोद्बोधो रसशास्त्रसिद्धस्तथा वेणुनादेन तद्बोधोऽस्मदनुभवसिद्ध इति कूजत्पदप्रयोक्त्या भावः । मोहनसहायत्वेन अस्य निरूपणेन अस्मदादीनामेव मोहने भगवतो न कश्चित्प्रयास इति ज्ञापनार्थं विनोदपदम् । एवं वेणुं वर्णयित्वा तदाधारं वर्णयति कङ्कणेति । कङ्कणोपर्यङ्गदं तदुपरि केयूरमिति क्रमः । मुद्रिका अङ्गुलीस्थाः । आदिपदेन नखशुक्तिकोच्यते । तस्या गोप्यत्वात्तथोक्तम् । तथाचैभिर्लसन्तौ शोभमानौ भुजौ यस्येत्यर्थः । अङ्गुल्यादीनां भुजावयवत्वेन मुद्रिकाणामपि तच्छोभाकरत्वमुक्तम् । यद्वा–एवं वेणुवर्णने यदा कदाचिद्भगवान् वेणुना स्वनामैव गृहीत्वा समाह्वयत्, तदा तच्छ्रुत्वा रहस्यागत्य भगवद्भुजयोः स्वभुजौ धृतवती, भगवांश्च राधाभुजयोः स्वभुजौ, तदा स्वकीयैर्भगवदीयैश्च कङ्कणाङ्गदादिभिरतिशोभा भगवद्भुजे दृष्टेति तत्स्मृत्वाह कङ्कणेति । तेन कङ्कणादीन्यत्र गोपिकाया उच्यन्ते । एवं क्रमोऽपि

सङ्गच्छते । बाहुमध्यस्थकेयूरोपरि तस्या मुद्रिकादेः स्थितेः, अत्र आदिपदेन सुवर्णकङ्कणकाचकङ्कणनखशुक्तिप्रभृतयो मद्धृदयस्था अनेक उच्यन्ते । तेन सुष्ठूक्तं लसद्भुज इति । यद्वा – मुद्रिका आदिर्येषां ते तथेति । तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । तथाच कङ्कणाङ्गदकेयूराश्च ते मुद्रिकादयश्चेति कर्मधारयः । तेन भगवदीयत्वपक्षेपि नाक्रमः ॥१६॥

तदा क्रमेण कौस्तुभादेर्दृष्टत्वात् क्रमेण तद्वर्णयति स्वर्णसूत्रेति—

स्वर्णसूत्रसुविन्यस्तकौस्तुभामुक्तकन्धरः ।
मुक्ताहारोल्लसद्वक्षःस्फुरच्छ्रीवत्सलाञ्छनः ॥१७॥

सुवर्णमयसूत्रेण सुष्ठु विन्यस्तो यः कौस्तुभो मण्याभरणं तेनामुक्ता व्याप्ता कन्धरा स्कन्धभागो यस्येत्यर्थः । तादृशकौस्तुभयुक्ता आसमन्तान्मुक्ता विशाला च सा यस्येति वा कर्मधारयः । यद्वा– पूर्वं स्वर्णसूत्रेण सुविन्यस्तो यः कौस्तुभः पश्चात् रतिसमये एतज्जनितान्तरायासहिष्णुतया उत्तारितत्वात्तेन आसमन्तात् मुक्ता त्यक्ता कन्धरा यस्य स तथेति । मुक्ताहारेति – मुक्ताहारैरुच्चै रतिशयेन लसत् शोभायमानं यद्वक्षस्तस्मिन् स्फुरत् प्रकाशमानं श्रीवत्सरूपं लाञ्छनं यस्य स तथा । यद्वा – मुक्ताहारोल्लसद्वक्षसा स्फुरन्ती या श्रीः तद्वत्सलाञ्छनः । यथा सा भगवन्नखपदाद्यङ्कितवक्षाः, तथा भगवानपि तन्नखपदकुङ्कुमकज्जलाद्यैस्तथेत्यर्थः । स्वकन्धरधृतबाहोः स्मृतावस्योक्तत्वात्तदा च राधाकरस्पर्शजनितरोमाञ्चानन्दादिना निसर्गत एव किञ्चिदुच्छूनावधिकं तथा भूतौ भगवतो हृद्यौ दृष्टाविति श्रीदृष्टान्तः । गोपीः परित्यज्य श्रीदृष्टान्तकर्त्र्या अयं भावः । तथाहि– यदि कस्याश्चिद्गोप्या निकटे स्यान्नाथस्तदा ममैतादृग्दुःखमेव न स्यात् । अन्योन्यं सर्वासां निष्कपटप्रीतेः विरहस्वभावात्, दुःखसम्भवे वा प्रिय एव सोढुं न शक्नुयात् । तत्सहनेपि वा ताः सोढुं न

शक्नुयुः, बलादप्यत्रानयेरन् प्रियम् । सपदि चैतदभावाल्लक्ष्मीसमीप एवास्तीत्यलं विस्तरेण ॥१७॥

आपीनहृदयो नीपमाल्यवान् बन्धुरोदरः ।

संवीतपीतवसनो रशनाविलसत्कटिः ॥१८॥

आपीनेति—आ समन्तात् पीनं स्थूलं हृदयं यस्य स तथेति । स्तनयोर्मध्यदेशो वर्णितः । तस्योन्नतस्यैव सुन्दरत्वेन तथा । यद्वा—आसमन्तात्पीना गोपीकुचास्ते हृदये यस्येति । गोपीनामापीनहृत्स्वयत इति वार्थः । तदधःस्थां मालामाह नीपेति । नितरामतिशयेन इं कामं पातीति नीपस्तद्रचितमालावानित्यर्थः । नीपशब्देन सूक्ष्मकदम्बकुसुमानि तद्वृक्षोऽप्युच्यते । तथाच हृदि कामजन्यकामरक्षकधारणेन सर्वदा सकामत्वं सूचितम् । तेनैवमपि स्वेष्टत्वं सूचितम् । बन्धुरेति - बन्धुरं निम्नोन्नतं मध्ये किञ्चिदुन्नतं पार्श्वयोरधश्चेषन्निम्नमेतादृशमुदरं यस्य स तथा । यद्वा – बन्धुपदेन हरिनामवत्त्वसाधर्म्यवन्तः सिंहा उच्यन्ते । तान् राति "रलयोरभेद" इति न्यायेन लाति आदत्ते आत्मसात्करोति कार्श्येन तद्बन्धुरम् । एतादृगुदरं यस्येत्यर्थः । संवीतेति – संवीतं वेष्टितं पीतं वसनं यस्य स तथा । यद्वा – दिदृक्षाविषयाङ्गान्तरायत्वेन कदा वा भगवानिदं दूरीकरिष्यतो उत्कण्ठततया गोपीनां दृष्टिः पीतवसनमावृत्यैव तिष्ठतीति संवीतत्वं पीतवसनस्य । तथाच कर्मधारयः सम्पद्यते । यद्वा–यदा कदाचिन्मानकृतविरहकातरया राधया अकस्मात्प्रकटो दूराद्धावन्त्या समागत्य परिरब्धो भगवांस्तदा स्वहृदयभुजकङ्कणाञ्चलादिभिः पीतं वसनं संवीतमभूत् तत्स्मृत्वा सपद्यपि तथा कथं भवेदिति समनोरथं नामोक्तमिदम् । एतादृशदृष्टिसंवीतत्वस्यातिगोप्यत्वेव संवीतत्वमात्रमुक्तम् । अथवा इहोत्तरीयस्य वर्णनम् । तदाश्लेषान्तरायत्वेन पूर्वं दृष्टचैव संवीतत्वं ज्ञेयम् । यद्वा – संवीतं सर्वदा

वृतमेव वर्तमानं गुप्तरसावस्थानमिति यावत्। तत्र पीतं वसनं यस्य स तथा। यद्वा – सम्यग्भूतं कामरसरूपं यद्धममृतं तद्वान् संवीतः। पूर्वोक्तप्रदेश एव। तस्मिन् वीतं विगतं पीतं वसनं यस्येत्यर्थः। कर्मधारयो वा। समभिव्याहारवशात् पीतवसनेनैव, तेन वेष्टितत्वं ज्ञेयम्, गोपीभिर्वा। उक्तरीत्या संवीत गोपीजनश्चासौ पीतवसनश्चेति। यद्वा–सम्यक् वीतं त्यक्तं गृहादिकं सन्ध्यायामभिसारे याभिस्ताः संवीता गोप्य इति यावत्। तासु पीतं वसनं यस्येति। रात्रिजागरणेन रतिश्रान्त्या चासावधाननया प्रातरुत्थानसमये भगवदीयं वस्त्रं तासु तदीयं वस्त्रं भगवतीति तथा। यदा भगवान् पूर्वं विविधबन्धैस्तासु परमरसप्राकट्यं करोति, तदा तद्रसस्वभावात्तथा रसाधिक्ये स्त्रीणां तथात्वात्तथैव रसो भवतीति तथा। यद्वा – सम्यक् वीत त्यक्तं पीतवसनं रतिसमये येन स तथा। रशनेति – पूर्वं महामणिहीरकादिजटिता कनकसूत्रसूत्रितबदरीसोदरमुक्ताफलमध्या। शृङ्खलितरतिपतिजयघण्टिका घुर्घूरूप्रोता कनकमयी रशना तया विशेषेण लसन्ती शोभायमाना कटिर्यस्य स तथा। विपरीते गोपीनां रशनया वा तथा। स्वतः सुन्दरघनमेचककट्यां विविधरङ्गमण्यादिभिरधिका शोभा भवतीति विपदार्थः। यद्वा – विपदेन पक्षिण उच्यन्ते। तथा च तान् लाति स्वस्वनसजातीयस्वनत्वेन सधमतया गृह्णातीति ला। एवञ्च, रशनपदेन सह कर्मधारयः सपद्यते। तथा सती शोभायमानेत्यग्रे पूर्ववत्। रशना विलसन्ती यया तादृशी कटिर्यस्येति वा। तस्यां रशनाकृतैव न शोभा, किन्तु सा स्वतः सुन्दरा। प्रत्युतैतत्कृता शोभा रशनायामिति भावः। यद्वा – गोपीनां रशनासु तथा सा यस्येत्यर्थः। तया विलसन्त्यो या गोप्यस्ताः कट्यां यस्येति वा। अथवा नृत्यं स्मृत्वेदमुक्तम्। अत एव भ्रमरिकाग्रहणेन चाकचक्याधिक्येन शोभायां विशेष उक्तः, तदा कटेश्चलनात् ॥१८॥

एवं कटिं वर्णयित्वा क्रमप्राप्तं तदधःस्थितं पीताम्बरं वर्णयति अन्तरीयेति—

अन्तरीयघटीबन्धप्रपदान्दोलिताञ्चलः।

"अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुक" इति कोशादन्तरीयपदं कटिस्थपीताम्बरपरमित्यध्यवसीयते। तथाच तस्य या घटी विस्तारे प्रान्तदेशो लोके "घरीकिनारी"ति शब्दवाच्यस्तस्यां यो बन्धो बन्धनं तेन प्रपदे पादाग्रे आन्दोलितमञ्चलं यस्येत्यर्थः। कटिस्थ-पीताम्बरोक्त्यैव तत्र स्थित्यन्यथानुपपत्त्या बन्धनप्राप्तावपि यद्बन्ध-निरूपणं तेन यथा नृत्यसमये कमलाद्याकारेण बध्यते, तथा बन्धन-मत्राप्युच्यते। अत एव चाञ्चलस्य प्रपदे आन्दोलनम्। आन्दोलनो-क्त्या मधुरनृत्यं ज्ञाप्यते। घटीबन्धपदमेव वा बन्धनप्रकारविशेष-वाचकम्। तथा चान्तरीयस्य घटीबन्धने बन्धनप्रकारविशेषेण तथा तद्यस्येत्यर्थः। यद्वा – घटीपदेन गोपीनीव्युच्यते। तथाच यदा सर्वा-सूपविष्टासु स्वरहःकथामन्योन्यं शृङ्गारादिकं च कुर्वाणासु मध्ये भगवांस्तासामेव नीव्यादिपरिधानेन तद्वेषं कृत्वोपरिस्थूलवस्त्रेण वदनकमलं गोपयन् कतिपयसखीनां स्वशिक्षितानां मध्ये भूत्वैता यथा न जानन्ति तथा शनैः शनैर्मधुरया गत्या समायाति कौतुकार्थं, तदाञ्चलस्यैवं दृष्टत्वात्तत्स्मृत्वेदमुक्तम्। अन्तरीयस्योपरि या घटी नीवी तस्याः बन्धे सति प्रपदपर्यन्तं आन्दोलितमञ्चलं यस्मिन्निति। यद्वा – रहसि कदाचिद्भगवान् राधा चान्योन्यमाश्लेषं कुरुतः। तदा भगवदन्तरीयस्योपरि या नीवी राधायास्तस्या अञ्चल तदा तथैवेति तत्स्मृत्वेदमुक्तम्। तदैतादृशसुखदोऽधुना किमिति न तथेति भावः। यद्वा – अन्तरीये अन्तरीयस्थाने या घटी तस्या यो बन्ध इत्यग्रे पूर्व-वत्। एतच्च रजनिजागरजनितालस्येनासमशरसमरजयजनितश्रमेण चाङ्गीकृतानवधानत्वस्य घूर्णायमाननयनस्य स्वपीताम्बरं त्यक्त्वा

गोपीवसनमेवायथातथं वेष्टयित्वा गच्छतोञ्चलं तथेति तत्स्मृत्वेदमुक्तम् । यद्वा – नामद्वयमिदम् । तदा पादान्ते विसर्गो ज्ञेयः । तथाचान्तरीयघटी या गोपिकायास्तस्यां बन्धः करतलबन्धो यस्य स तथा । एतच्च प्रथमसमागमे व्रीडायां वा अन्तरार्तया मिथ्यामानकृतनत्यनङ्गीकाराया वा निर्बन्धकरणे । यथा तदैवं स्वनिर्बन्धेन तथाकरणं, तथाधुनाऽस्मन्निर्बन्धेन तथा कर्तव्यमिति भावः । यद्वा—अञ्चलपदेन गोपिकाञ्चलमेवोच्यते । तथाच यदा भगवान् रहसि समायाति ताश्च कुङ्कुमादिसुगन्धद्रव्यजलैश्चरणकमले प्रक्षाल्य स्वाञ्चलेन प्रोञ्छनं कुर्वन्ति, तदा भगवतः प्रपदे आन्दोलितं तासामञ्चलं भवतीति तत्स्मृत्वेदमुक्तम् । अधुनापि तथैव कुर्वित्यभिप्रायेण ॥१६॥

अग्रे ऊरुजान्वादीनां समयविशेष एव प्राकट्येनान्यदा पीताम्बरेणावृतत्वेनातिगोप्यत्वं तेषु जानन्तीतिताननुक्त्वा चरणारविन्दमेव वर्णयति । अथवाधुना तादृशावधानाभावेन पीताम्बरप्रसङ्गेनापि प्रपदस्मरणे जाते तत्संबन्धिचरणारविन्दमेवावाग्रे स्मृतं वर्णयति, पूर्वं विस्मृत्य अरविन्देत्यादिना श्लोकद्वयेन—

अरविन्दपदद्वन्द्वकलक्वणितनूपुरः ॥१६॥

बन्धूकारुणमाधुर्यसुकुमारपदाम्बुजः ।
नखचन्द्रजिताशेषदर्पणेन्दुमणिप्रभः ॥२०॥

ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजराजच्चरणपल्लवः ।

अरविन्दरूपं यत्पदद्वन्द्वं तस्मिन् कलक्वणितान्यव्यक्तमधुरत्वेन शब्दायमानानि नूपुराणि यस्य स तथा । अरविन्दपदेन तापहारकत्वसरसत्वगोपीकुचकोकसहचरत्वादीनि सूचितानि । विरहतपनोद्भवे एवैतस्यापि प्राकट्यमित्यपि ज्ञापितम् । कमलस्य यथा सरसदेशमात्रे उत्पत्तिः तद्विशेष एव कुत्रचित्तथा । तथैतद्रसेनैव सरस-

हृदयविशेषस्य प्राकट्यमिति सूचितम् । तस्य च यथान्तर्न जलमात्रमपि तु मकरन्दः तथा बन्धादिषु हृदयादिस्थापने यो रसस्तद्वत् । न तु ज्ञानविषयानन्दसामान्यवत् । तेन तदविषयत्वं तस्मादुत्तमत्वं च सूचितम् । अत एव द्वन्द्वत्वमुक्तम् । तेषामद्वैतदृष्टित्वात् । किञ्च-विकसितादेव हि कमलात् मकरन्दप्राप्तिः । स च तरणिकिरणसामानाधिकरण्ये । अत्र च विरहतापस्य तथात्वेन ज्ञानिनां च तदभावेन करौ तद्रसास्वादे । अपिच – सति तापे हि तदपहारिकमलाद्यन्वेषण, तेषु तदभावस्योक्तत्वात् नात्रोपयोगः तेषां कश्चिदिति तत्त्वम् । तेन गोपीनामेव हृदये विकासो रसदातृत्वं चास्येति भावसर्वस्वम् । गोपीकुचकुङ्कुममेव परागोऽत्र, ध्वजादिरेखाः केसराः, अत एवैताभिरेव "पूर्णाः पुलिन्द्य" इति श्लोके तादृशकुङ्कुमस्यैव तापहारकत्वमुक्तम् । मकरन्दसंवलितस्यैव परागस्य तथात्वेन अत्रापि पूर्वोक्तसंवलितत्व "दयितास्तनमण्डिते"ति पदेन सूचितम् । अत एव एतद्दर्शनमात्रेण स्मररुगपि संगच्छते, लिम्पनेन तदभावश्चेत्यलं विस्तरेण । कनकहीरकेन्द्रनीलमणिपरिष्कृतानि परितो विलम्बिमुक्तागुच्छानि तदग्रे विविधपदविरचितसूक्ष्मपुष्पाणि नूपुराणि तानि भ्रमरा इवेषच्चलनेप्यव्यक्तमधुरं शब्दं कुर्वन्तीति तथा । यद्वा – अरविन्देषु गोपीनां हृदयकमलेषु संलालनादौ करकमलेषु वा यत्पदद्वन्द्वं भगवतस्तस्मिन्नित्यग्रे पूर्ववत् । समयविशेषं स्मृत्वेदमुक्तम् । यद्वा – अरविन्दानां पदं स्थानं यमुनापुलिनमिति यावत् । तस्मिन् यानि द्वन्द्वानि भगवतो गोपीनां च रासे तेषु तथेति । नृत्यं स्मृत्वेदमुक्तम् । एवं चरणस्योपरिभागो वर्णितः । यदप्यग्रे नखवर्णनमेव युक्तं क्रमप्राप्तत्वात् तथापि यत्तलवर्णनं तत्त्रिभङ्गं स्मृत्वेति ज्ञेयम् । तत्र दक्षिणचरणतलस्यैव प्रथमं दर्शनात् । पश्चान्नतानामिति चरणतलं वर्णयति । अथवा – पूर्वं कदाचिद्विरहसतप्तहृदया रहस्युपविष्टस्य भगवतश्चरणतलं विह्वलतया पश्यतीव पर-

मार्त्या स्वहृदयेऽस्थापयत् । तेन च तापापगमे ततश्चरणमञ्जलौ गृहीत्वा पश्यन्तं पूर्वं तलमपश्यत, पश्चान्नखानि। पुनः स्वेष्टत्वेन तलमिति पूर्वानुभूतम् । अधुनापि तादृश एव सन्तापोऽस्तीति चरणस्मरणमात्र एव सन्तापोऽस्तीति चरणस्मरणमात्र एव प्रकरणात्तत्स्मृतत्राधुनापि तथा कथञ्चिद्भवेदिति समनोरथं नखानि विस्मृत्य तलमेव वर्णयति, ततो नखानि, पुनस्तलम् । अत एव पुनरप्यम्बुजत्वनिरूपणम् । बन्धूकेति – बन्धूकोक्त्या रक्तपुष्पविशेषः । तद्वत्तस्मादपि चारुणं माधुर्यरूपं च सुकुमारं चेति सर्वत्र कर्मधारयः । तथाचैतादृशं पदाम्बुजं यस्येत्यर्थः। यद्वा – बन्धूकारुणपदेन कुङ्कुममुच्यते। तेन माधुर्यं सौन्दर्यं येषां ते गोपीहृद्यास्तेषु सुकुमारं कमलाकरस्पर्शेऽपि म्लानिमिव भजमानं सुष्ठु कुत्सिता मारः कन्दर्पो यस्मादिति वा एतादृशं तद्यस्येति । एतेनातिकठिनेषु तेषु तादृशं पादाम्बुजं ददातीति गोपीनामर्थे भगवान् स्वक्लेशमपि न गणयतीति सूचितम् । अम्बुजार्थे श्लेषोपि ज्ञेयः। तत्रारुणेन सूर्येण तथा। नखचन्द्रेति नखरूपेणैकेनापि चन्द्रेण जिताः तुच्छीकृता अशेषदर्पणेन्दुमणीनां प्रभा येन स तथा । नैर्मल्यचाकचक्यतापहारकत्वमण्डलाकारत्वान्यानभिभाव्यप्रभत्वेषु कस्मिन्नप्यंशे न न्यूनतेति दर्पणादित्रयग्रहणम्। सामान्यतः साम्याभाव उक्ते एकेन द्वाभ्यां वा साम्याभावेपि बहुभिर्मिलितैस्तैः साम्यं भविष्यतीति शंका स्यात तद्व्युदासायाशेषपदं, तेनासम्भावितसाम्यत्वं पर्यवस्यति। दर्पणजयोक्त्या स्वावरशोणिमाप्रतिबिम्बवत्त्वं सूचितम्। न ह्येवं दर्पणे। अत एव श्रीभागवते उत्तुङ्गरक्तेति नखविशेषणं, एतेनैवात्र प्रतिबिम्बितं बिम्बादपि कोटिगुणितं सुन्दरं भवतीति सूचितम् । दर्पणे तथाभावात् । इन्दुजयोक्त्या निर्मलत्वशश्वदखण्डत्वसूर्यप्रभाद्यनभिभाव्यत्वानि सूचितानि। तस्यैतद्विपरीतत्वात् । मणिजयोक्त्या सुमृष्टत्वेपि तथात्वमतिकोमलदेशप्रभवत्वमतिशयितभाग्यभावबद्धहृदयभूष-

णत्वमन्तर्बहिरपि सूचितम् । तस्यैतद्वैपरीत्यात्। एतेषां च प्रभां विना स्वतोऽप्रयोजकानां प्रभैव सारभूतेति प्रभाजयोक्तिः। चाकचक्ये दर्पणस्य शैत्ये चन्द्रस्यापि लौहित्ये मणेरपि उपमानं दातुं न शक्यत इत्यपि दर्पणादित्रयोक्तेस्तात्पर्यं ज्ञातव्यम् । तेनाशक्यनिर्वचनसौन्दर्यवत्त्वं सूचितम्। अत एव जयोक्तिरेव. परं न त्वेतादृशमित्यपि। यद्वा – नखचन्द्रेण जिता वशीकृता या राधा तस्याः शेषभूता दर्पणादीनां सा यस्मादित्यर्थः । पूर्वं विरहतापवत्त्वेनातथाभूताया भगवत्सङ्गे जाते तादृशी शोभा जाता इति तथा। अत एव नखानां चन्द्रत्वनिरूपणम्। यद्वा – नखैर्नखदानैश्चन्द्रवच्छीतलैस्तापहारिभिर्दर्शनैश्च जिता रतिरणे या सा तया शेषत्वेन तुच्छत्वेन जातास्तेषां तापेनेत्यर्थः। त्रिभङ्गपक्षे द्वितीयपक्षे वा तापापगमानन्तरं चरणकमलस्य हस्तयोग्रहणे तत्सौन्दर्याभिनिविष्टचित्तायाः परितस्तद्दर्शने प्रथमत उपरिस्थितनखदर्शनं पश्चात्तलस्थरेखादर्शनमिति पूर्वं नखानि पश्चाद्रेखा वर्णयति । भगवद्दत्तरसाया राधायाः प्रातस्तादृश्येव शोभेति तथा। एवं नखानि वर्णयित्वा तत्तलरेखा वर्णयति ध्वजवज्रेति । चरणे निभर्यास्थित्यर्थं ध्वजस्थापनम् । विरहे हृदयरोधरूपमहापर्वतविदारणाय वज्रस्थापनम् । व्रजनाथमहारसमदमत्तगोपीमनोगजमानापनोदनाय अङ्कुशस्थापनम् । विरहतापापनोदनाय अम्भोजस्थापनम् । स्थापितानि यानि ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजानि तैः राजन् शोभायमानश्चरणपल्लवो यस्येत्यर्थः। नतैतेषामेव कार्यार्थं कृपां कुरु इति भावः। पल्लव आम्रादेर्नूतनोङ्कुरः। चरणे तन्निरूपणेन स यथा सरसवसन्त एव प्रादुर्भवति, नूतनकामजनको रसपोषकश्चातिकोमलस्पर्शस्तापहृद्रतितल्पोपयोगी च, तथेदं तादृग्रसेन सरसे गोपीनामेव हृदये प्रादुर्भवति कामजनकत्वादिष्वपि तथेति सूचितम्। नित्यनूतनत्वं च। यद्वा – एतादृशचरणे पल्लवा यस्येत्यर्थः । एतच्च यदा विरहसन्तापेन स्वहृदये

पल्लवाः स्थापिता आसन् । तदैव च भगवत्यागतेऽतिविह्वलतया शीघ्र-मेव तापशमनार्थं सपल्लव एव हृदये चरणावस्थापयत् । ततः सन्तापो व्यगमदिति । तत्स्मृत्वोक्तमधुनापि तथैव कुर्वित्यभिप्रायेण ॥२०॥

एवं प्रत्यवयववर्णनेऽपि तापानपगमेऽतिदुःखिता सकृत्सङ्गेनैव य एतादृशदुःखदः स पुनः किमिति मृग्यते इति शङ्कां दूरीकुर्वन्नेव स्वरूपाभिनिविष्टत्वेन समुदितं स्वरूपं वर्णयति त्रैलोक्येति—

त्रैलोक्याद्भुतसौन्दर्यपरिपाकमनोहरः ॥२१॥

त्रैलोक्येऽपि यदद्भुतमसम्भावितं सौन्दर्यं गोपीनां तस्य यः परितः पाको विरहतापेन अधरशोषस्तस्मिन्नपि भवति मनोहर एवेत्यर्थः । विरहेणातिक्लेशे मनोनिवर्तनेच्छायामपि मनसो हृत्वेन धर्मिण एवाभावान्न निवर्तनं भवति । विषयस्याप्येतादृशस्वभावत्वादिति भावः। तथा चोक्तम् – "गणयति गुणग्राममि"ति । "रिपुरिव सखीसंवासोयमि"त्यादिना श्रीगीतगोविन्दे । यद्वा – त्रैलोक्येऽद्भुतं सौन्दर्यं यासां तादृशीनां गोपीनां परिपाके फलपर्यवसाने मनसो हरणं येन स तथा । तस्य फलरूपत्वेन यथा । यद्वा – गोपीनां तादृशं यत्सौन्दर्यं तस्य परिपाके सम्यङ् निष्पत्तौ सत्यां मनो हरतीति तथे-त्यर्थः । एतच्च प्रातरारभ्य सन्ध्यापर्यन्तं पुष्पतल्पमालारचनस्वा-भ्यङ्गस्नानानेकप्रकारनीवीपरिधानकेशप्रसाधनसुगन्धद्रव्यलेपनतिल-काञ्जनादिरचनाभिः सकलाङ्गसौन्दर्ये सम्पन्ने सन्ध्यायां भगवाना-गत्य मनो हरतीति तत्स्मृत्वोक्तम् । असमर्पितपरकीयवस्तुनो बलाद्-ग्रहणं हरणम् । भगवति च विविध – मनोहरत्वनिरूपणेन यत्र असमर्पितमपि गृह्णाति, तत्र समर्पितं मनोऽस्माकं गृह्णातीत्यत्र किमा-श्चर्यमिति भावः सूचितः ॥२१॥

एवं सन्ध्याकालीनस्य स्वरूपमुक्त्वा तदनन्तरं क्रमेण रहस्या-गतस्य स्वरूपं वर्णयति—

साक्षात्केलिकलामूर्तिः परिहासरसार्णवः ।
यमुनोपवनश्रेणीविहारी व्रजनागरः ॥२२॥

केलिः कामकेलिः सैव या कला स्वरूपं तन्मूर्तिः । चतुःषष्टिकलासु मध्येऽन्यासां कलानां ज्ञाता कामकेलिकलायास्तु मूर्तिरूप एवेत्यर्थः । यथा दुर्गाद्यङ्गसमानाकाराङ्गत्वेन सुवर्णमय्या अपि मूर्तेर्दुर्गादिमूर्तित्व प्रसिद्धम् । तथा केलिकलाया यत्किञ्चिद्धर्मवत्त्वेन भगवति तत्त्वं प्रतिपाद्यत इति शङ्काव्युदासार्थं साक्षात्पदम् । तथा च । यथा दिव्यदुर्गाशरीरे एव मूर्तिव्यवहारो देवानामेव, तथा केलिकलामूर्तिव्यवहारो भगवत्यस्माकमेवेति भावः । कलात्वनिरूपणेन सुरते विचित्रत्वं द्योतितम् । भगवतः प्रत्येकाङ्गेषु दर्शनमात्रेण सुरतेच्छाजनकत्वस्य आवश्यकत्वात् । सुरते च विविधबन्धकुशलत्वेनैतमूर्तित्वनिरूपणम् । यद्वा – साक्षादित्यव्ययस्य प्रत्यक्षत्वमर्थः । तथा च प्रत्यक्षा केलिकलास्वेव मूर्तिः स्वरूपं यस्य स तथा । दर्शनमात्रेण सुन्दरत्वेनैव ज्ञानं, न तु पूर्वोक्तसमय इव रसिकशिरोमणित्वादिज्ञानमपीति भावः । निमित्तसप्तमी वा केलिकलास्वित्यत्र । एवं रतिसामयिकं प्रियं वर्णयित्वा तदैव तद्रसपोषकरसान्तरवत्त्व-करणत्व-माह परिहासेति । परिहासपदेन हासजनकवचनान्युच्यन्ते । तेषु यो रसः तद्रूप एव वा, तस्यार्णवरूप इत्यर्थः । यदा भगवान्नर्मवचनानि वदति, तदैकस्यापि वचनस्य यो रसस्तत्रैव निमग्नास्वेव गोपीषु सतीषु यदा भगवान् द्वितीयं तादृशमेव वदति, तदा पूर्वरसस्यैव पारमपश्यन्त्य एव पूर्वस्मादधिकोर्मिभिरिव द्वितीयसमुद्र इव ततोधिके निपतन्ति । एवमेवोत्तरोत्तरमिति हृदयम् । अत एव रसस्यैव प्राधान्यं वचनानां नेति ज्ञापनाय रसपदम् । वचनबहुत्वे रसाल्पत्वे च रसाभावात् । अत एव नयनभ्रुवादिभिरपि हास्यरसोत्पत्तिः । अन्यच्च रसिकसिद्धान्ते हि शृङ्गार

एव रसः। वीरादयस्तत्पोषकत्वेन एव रसा नान्यदा। यथा महाराजस्य सर्वोपकरणान्यपि सुवर्णमयान्येवान्यस्यैतस्मात्तुच्छत्वेन धातुत्वमेव न मन्यन्ते। एतदेव रसपदेनोच्यते। अन्यथाऽस्मिन्रसे रसान्तरस्य रसाभासजनकत्व स्यात्। अत एव रत्यां विमर्दित्वाभिप्रायेण "केशिमथनमुदार" "मधुसूदनमुदितमनोजमि"त्यादिभिर्जयदेवैः गीतगोविन्दे निरूपितम्। अन्यथा वीररसजनकं नाम कथं प्रयुञ्ज्यात्। अत एव रतिरणप्रयोगश्च। यद्वा–गोपीकृतो यो नर्मरसः स अर्णवो यस्येति। यदा भगवान् गोप्यश्च अन्योन्यं नर्मवचनानि वदन्ति, तदा भगवान्नर्मणा ता जेतुं न शक्नोतीत्यर्थः। रसिकरीतिरेवैषा इति न कश्चिद्दोषः। स्वजयापेक्षयैवं रसोऽपि महानिति तथा। भगवति पूर्वं बृन्दावनचन्द्रत्वनिरूपणेन सर्पादि परिहासरसस्यार्णवत्वनिरूपणेन अस्य प्रतिक्षणं वृद्धिः सूचिता। यद्वा–तद्विषयेऽर्णवरूप इत्यर्थः। पूर्वोक्तार्थवैपरीत्यमत्र ज्ञातव्यम्। यद्वा – यदागमनमुक्त्वा सन्ध्यायां नागमत् प्रियः प्रातश्चागमत्तदा मानवत्यां राधायां नर्मवचनैस्तथाकरोतीति यथा तद्रसे एव निमग्ना सती विस्मृतपूर्वदुःखमानादिर्बहिरप्यनुरक्ता भवतीति स्मृत्वेदमुक्तम्। अर्णवत्वं निरूपयन्त्या नर्मरसे प्रकटीभवद्दन्ता एव मणित्वेनाभिप्रेताः। एवं तापापगमार्थं हास्ययुतरमणकर्तारं निरूप्य तदनन्तरमसञ्जातकामपूर्तिर्भगवांस्तादृशीमेव राधां हस्ते धृत्वा विशेषक्रीडार्थमनयद्यमुनातीरप्रतिनिकुञ्जमरीरमच्चेति तत्स्मृत्वाह यमुनेति। यमुनासम्बन्ध्युपवनानां याः श्रेणयः पङ्क्तयः तासु विहारी क्रीडाकर्तेत्यर्थः। क्रीडा द्विविधा जलस्थलभेदेन। तत्र केवलस्थललीला पूर्वोक्ता। अत्रोभयमप्युच्यते। तेन यमुनायां तदुपवनश्रेणिषु च तथेत्यर्थः। प्रतिवृक्ष रमणमिति ज्ञापनार्थं श्रेणीपदम्। विहारा यथेच्छमर्यादलीला। तेन व्रजन् तिष्ठन् शयान उपविष्टोऽपि लीलां कृतवानिति सूचितम्। यद्वा—यमुनाया उप समीपे यद्वनं तत्र या श्रेणयो गोपीनां तासु तथा।

यद्वा – पूर्वोक्तासु वेः कालस्य हारी हर्तेत्यर्थः । भगवत्सङ्गे सम्पूर्णा अपि रात्रयः क्षणार्धवन्नीयन्ते तदभावे युगप्रायाः । तत्र वस्तुतस्ता महत्य एव भगवत्सङ्गे तासामल्पत्वं यत्तद्भगवान् महान्तं कालं दूरीकरोतीति तासां बुद्धिः । तेनैवमुक्तम् । नन्वेवं स्वच्छन्दलीलायां क्रियमाणायां व्रजस्थाः कथं न जानन्तीति चेत्तत्राह । व्रजे सर्वस्मिन्नेव भगवानेव नागरोऽतिचतुरः । स्वच्छन्दलीलामपि कृत्वा स्वचातुर्येण तथा करोति यथा कोपि लक्षतेऽपि नेत्यर्थः ज्ञाने तथा रसो न भवतीति तथा । इदमेव भागवते "नासूयन्खलु कृष्णाये"ति श्लोके निरूपितम् । एतेनैव दिवापि यथेच्छं ताभिः सह भगवान्क्रीडतीति परमभाग्यवता ज्ञेयम् । यद्वा – व्रजपदेन तत्रस्था गोप्य एवोच्यन्ते । तथा च तास्वेव कामलीलायां बन्धादिभिरतिचतुर इत्यर्थः । अन्यत्र मुग्ध इवेति भावः । यद्वा – पूर्ववदन्यया कयाचित्सह यमुनोपवनप्रतिवृक्ष विहरन्यदि भगवान् दूरं गतो भविष्यति व्रजात्तदा कथमधुनैव प्राप्तिः इत्यत आह व्रजेति । व्रजनगरसम्बन्ध्येव, भगवानतो नान्यत्र गमिष्यतीत्यर्थः ॥२२॥

तर्हि मिलिष्यत्येव कुतो महद्दुःखं क्रियते इत्यत आह गोपाङ्गनेति—

गोपाङ्गनाजनासक्तो वृन्दारण्यपुरन्दरः ।
आभीरनागरीप्राणनायकः कामशेखरः ॥२३॥

गोपसम्बन्धिन्यो या अङ्गनास्ता एव जना दास्यस्तास्वासक्त इत्यर्थः । तेन ताः परित्यज्य कथं मत्सन्निधावागमिष्यतीति भावः । ननु भवत्यपि तादृश्येव ततोधिकापि कथं तास्वेवासक्तो न भवत्यामिति शङ्का जनपदेन वारिता । ताः दासीभावं प्राप्ता निरभिमानास्तेन तासु तथा । मम तु तद्रसमदेनैव सञ्जातमानत्वात् न तथात्वमिति भावः । एतेनैव नन्वधुना भवत्यपि तादृश्येवेति शीघ्रमागमिष्यत्येवातो न दुःखं कर्तव्यमित्यपि समाधानवचनं परिहृतम् । ता

बह्वृचः, तत्रापि पुंभावं प्राप्ता रसाधिक्येन । "रसाधिक्ये स्त्री पुंभावमापद्यत इति वात्स्यायनः। तेन यदि भगवानागमिष्यत्यपि कदाचित्तदा ता न गन्तुं दास्यन्ति । भगवांश्च तद्वशग इति ता अतिक्रम्य न गच्छतीति जनपदप्रयोक्त्या भावः । आसक्त्या स्वतोप्यशक्यस्तत्त्याग इति सूचितम् । ताभिः सहागमनपक्षे पूर्वोक्तं दूषणम् । स्वपत्यादिपरित्यागपूर्वकं दासीभावं प्राप्ता इत्यपि हेतुरासक्ताविति ज्ञापनार्थं गोपसम्बन्धनिरूपणम् । सर्वथाऽनासक्तौ परं महत्कष्टम् । कुत्रचिच्चेदासक्तस्तदा कदाचिन्मय्यप्यासक्तो भविष्यतीत्याशालतावलम्बनकदम्बायितमासक्तिनिरूपणम् । एवमुक्ते राधया मयैतादृशोपि कथञ्चिदाकार्यनियस्त्वं निर्दिश कुत्रास्तीति कयाचिदुक्ते निर्दिशन्निवाह वृन्दारण्येति । वृन्दारण्यस्य वृन्दावनस्य पुरन्दर इन्द्रः स्वामीत्यर्थः । न ह्येन्द्रः कुत्रचिदप्रसिद्धो येन मत्कथनापेक्षात्र । वृन्दावनं गता त्वमेव ज्ञास्यसीति भावः । वृन्दावनोक्त्या स्थलनिर्देशोपि विशेषानुक्त्याऽनिर्देशोपीति चातुर्यमेव तस्याः । यथेन्द्रस्त्रैलोक्यस्वाम्यपि देवलोक एव तत्रापि स्वलोक एव तत्रत्याङ्गनाभिः सेवितो वर्तते । तथा भगवान् कोटिब्रह्माण्डपतिरपि गोकुल एव तत्रापि वृन्दावन एव तत्रापि स्वलोके स्त्रीप्रधाने गोपीभिः सह क्रीडतीति हृदयम् । देवलोकमात्रे न दुःखं सुतरां इन्द्राधिष्ठिते, अतोऽनु - चितं मद्दुःखमत्र दर्शनाददिदानेन दूरीकुरु इति भावः । ननु तर्हि दुःखासम्भवः । सत्यम् । लौकिकवैदिकव्यवस्थैषा न तु तदतीतेति । तथाहि - स्वर्गे हि केवलपुण्योपार्जितं शरीरम् । तेन सुखाप्तिरेव, न दुःखाप्तिः । तत्साधनपापोपार्जितत्वाभावात् । अत्र च "नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत" इति वचनेन पापमात्राभावे भगवद्भक्तिलाभात् पापकृतं नैतद्दुःखम् । दुःखत्वेन पापजन्यत्वसाधने चोपाधिरुक्त एव । एवं सुखमप्यत्र ज्ञेयम् । अतोस्मिन्नलौकिकतमे प्रमेयमार्गे सुखं दुःखं च भगवत्सङ्गविरहाभ्यामेव भवतीति तत्त्वम् ।

अत एव दशमस्कन्धे अन्तर्गृहगतकथानिरूपणप्रस्तावे भगवत्सङ्गम-भगवद्विरहजनितसुखदुःखयोः कर्माजन्यत्वमित्येव निरूपितम् । एत-देव च श्रीभागवते "आसामहो चरणरेणुजुषामि"ति श्लोके "स्व-जनमार्यपथं च हित्वे"ति पदाभ्यां निरूपितम् । अत एव तादृशजन्म-प्रार्थनापीत्यलं विस्तरेण । नन्वेतावदनुसन्धाने तादृशस्य विरहे कथं प्राणस्थितिरित्यत्राह आभीरेति । आभीरसम्बन्धि यन्नगरं गोकुल तत्सम्बन्धिन्यो या स्त्रियोऽतिचतुरास्तासां ये प्राणास्तेषां नायको रक्षक इत्यर्थः । तेन तदिच्छयैव परं प्राणस्थितिः । न तु मत्प्रयत्नेति भावः । गोकुलवासिनां सर्वेषां राजवन्नियामकोऽस्माकं तु प्राणानामपीति स्वोत्कर्षः सूचितः । तेनान्तरङ्गत्वमुक्तम् । तथा च यथा देशरक्षको राजा तत्र स्थित्वा देशं पालयति, तथा भगवान् प्राणेषु स्थितः स्वयं प्राणान्पातीत्यर्थः सम्पद्यते । यद्वा – यथा पूर्वोक्तान्नयतोऽति तथा । एतेन भगवता सर्वस्मिन् मत्प्राणा नीता स्वयं चास्मद्धृदय एव तिष्ठतीति न बहिरुद्गमः प्राणानामिति भावः सूचितः । यद्वा—सेषद्रोषदैन्यमाह । आभीरेति पूर्ववत् । एतेन यः प्राणहर्ता स कथं तत्स्थितिसाधनं सङ्गं करिष्यतीति भावः सूचितः । अत एव नाग-रीत्वकथनम् । लोके हि चतुररक्षित वस्तु न प्राप्यते । अत्र च तादृशीनामेव तत्राप्यन्तःस्थितप्राणान्नयतीति भगवत्यपि चातुर्यं सूचितम् । अत एव श्रीभागवते ये दुर्गस्थास्त एव कठिनाः तत्रापि जलदुर्गस्थास्तत्रापि साधुजाताः प्रभवस्तत्रापि प्रकाशवति काले शीताद्युपद्रवरहिते स्थिता इति देशकालस्वरूपादिभिरप्यशक्य-चौर्यात् पुरुषात् तदुदरवर्तिसर्वस्वनेतुरस्मदादिसाधारणगोपीप्राण-हरणे किमाश्चर्यमिति "शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्री-मुषादृशा" इति ताभिरेव निरूपितम् । यद्वा – त्वमपि तद्वन एव वर्तसे, त्वयि कथ न तथेत्यत आह । आभीरसम्बन्धिन्यो याश्चतुराः तासामेव प्राणरक्षको न तु मत्सदृशीनामचतुराणां, यतो न प्राण-

बाधायामप्यागच्छतीति । स्वयं चतुरापि दुःखेनैव दीना एवमुवाच । पूर्वोक्तप्राणश्चासौ तन्नायकश्च इति कर्मधारयो वा । यद्वा – पूर्वोक्तनामनिरूपणेन तत्रत्यपूर्वसङ्गस्मरणेनातिप्राणबाधायां शीघ्रमागत्य पालय, त्वमेव मत्प्राणपाता, नान्य इत्यभिप्रायेण चेदं नामोक्तम् । एवमुक्तेऽप्यतिपीडायां कामेन तु क्रमेणान्तिमावस्था शीघ्रमेव भवति तेनापि दुःखनिवृत्तिः, भगवान् तामपि न करोति, न वा मिलतीति कामादपि लोकोत्तररीतिरित्याह कामेति । कामादपि शेखरभूतोऽलौकिकरीतिरित्यर्थः । यद्वा – नन्वनङ्गसेनारूपत्वाद्भवतीनां प्राणरक्षामनङ्ग एव करिष्यति तावत्पर्यन्तमित्यत आह कामेति । शेखरोऽत्युच्चैःस्थितो नियामक इत्यर्थः । तेन भगवता अहं परिगृहीता, न तद्वशगेत्यर्थः । यद्वा – सर्वस्य लोकस्य शेखरभूतः कामः सर्वेषां चक्षुरागादिमरणान्तावस्थाः करोति तथा भगवान् कामस्यापि शेखरः तस्यापि तावदवस्थासम्पादक इत्यर्थः । यद्वा – प्रथमासक्तिहेतुभूतं नामाह । कामेति पूर्ववत् । कोटिकन्दर्पलावण्य इत्यर्थः । एतादृशसौन्दर्येण वशीकृतमानसा किं करोमीति भावः । यद्वा – कामः कामना मनोरथ इति यावत् । तथा च तस्यापि शेखरोऽतिदूरे स्थितोऽविषय इत्यर्थः । मनोरथे ह्यसम्भावितमपि भासते वस्तु, भगवत्सौन्दर्यानन्दादिकं तु मनोरथस्यापि न विषयोऽत्यलौकिकत्वादिति । तथा चोक्तं श्रीभागवते "मनोरथान्तं ययुरि"ति । अत्र बहुव्रीहिर्ज्ञेयः । यद्वा – कामः तृतीयः पुरुषार्थः । कामक्रीडेति यावत् । तस्यां शेखरोऽतिविदग्ध इत्यर्थः ॥२३॥

एवं स्थलक्रीडायामुच्यमानायां जलक्रीडास्मरणे यथा यदा कदाचित् गृहकृत्येनान्येन वा निरोधेन दिवा भगवत्समीपे गमनं नाभूत्तदा स्नानादिव्याजेन पारं गमिष्यामीति व्याजेन वा प्रियं यमुनातीरगतं सख्यादिभिरवधार्य यमुनामगमत्तत्र चैतदर्थमेव तत्कृतनाविकत्वमिषस्य दर्शनाश्लेषादिनातिचिरविरहतापमपाकरोत् तथा-

धुनापि तापसत्त्वेन तदपगमार्थं पूर्वानुभूतमेवाह समनोरथम् । यमुनानाविक इति—

यमुनानाविको गोपीपारावारकृतोद्यमः ।
राधावरुन्धनरतः कदम्बवनमन्दिरः ॥२४॥

नौकोपजीवी नाविक इत्युच्यते । एतेन यथा विरहावस्था तासां तथा भगवतोपि इति सूचितम् । घट्टविशेषोक्तिरहितेन सामान्ययमुनानिरूपणेनैकान्ते कृतसङ्केते यमुनामात्र एव विनोदार्थमेव तथा करोतीति सूचितम् । अथवा – पूर्वनामोक्तलीलास्मरणेऽतिपीडायां कथं चैतद्दुःखसमुद्रं तरिष्यामीति चिन्तयाना तत्साधनीभूतनौकास्मृतिमात्र एव स्मृतपूर्वानुभूतनौकासुखा त्वमेवैतत्पारनेता नान्य इत्यभिप्रायेण च नाविकत्वनिरूपणं कृतवती । एवं पूर्वमेकाकिना भगवता जातं स्वसङ्गममुक्त्वा तदनन्तरमिदं ज्ञात्वा सर्वा गोप्यः समागतास्ताभिरपि लीलां कृतवानिति तत्स्मृत्वाह गोपीति । गोपीसम्बन्धी यत्पारावारं परपारमर्वाक्पारं च तद्विषये कृत उद्यमः प्रारम्भो येनेति योजना । इदमत्राकूतम् । याः समागतास्तन्मध्ये काश्चन प्रथमागता भगवद्गोपीसम्बन्धानभिज्ञाः सन्ति । तेन ता यथा न जानन्ति तथा भगवान् मिलत्वित्येतासां हृदयं ज्ञात्वा भगवान् प्रथमं पारकरणमेवोद्यममात्रं कृतवान् । पश्चाद्यमुनाया मध्ये नीत्वा ता अपि स्वलीलावशाः स्वकीयाः कृत्वा तथैव यथेच्छ रेमे इति भावः । अत एवोद्यममात्रनिरूपणम्, न तु पारोत्तारणस्यापि । आयासेनारम्भ उद्यम उच्यते । तेन या नारोढुं शक्तास्ता स्वयं क्रोडे कृत्वाप्यारोहयतीति सूचितम् । एतेनैतल्लीलायामेव भरो नान्यत्रेत्युक्तं भवति । यद्वा – कासाञ्चित् परपारे सङ्केतस्थल कासाञ्चिदर्वाक् पारे । तथा च गोपीसम्बन्धि यत्पारावारं तद्विषये तद्गमनार्थं कृतः स येन स तथा । एवं कष्टसाध्यपारगमनोद्यमनिरूपणेन

भगवानेतासामर्थेऽशक्यमपि करोतीति सूचितम् । एतेन तदैताहृशो भगवान् कथमधुना नेति सोपालम्भ दैन्यं प्रकटितं भवति । यद्वा— गोपीरूपो यः पारावारः समुद्रः तदर्थं कृत उद्यमोऽवतरणादिकं येनेत्यर्थः । तदुक्तम् – "व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्री"ति । "व्यक्तं भवान् व्रजजनार्तिहरोऽभिजात" इत्यादिश्च । समुद्रत्वं रसांशे । एवं सर्वास्विष्टकर्तृत्व भगवति निरूप्य ततोपि स्वस्मिन्नत्यनुरागमाह राधेति । राधाया यदवरुन्धनं रोधस्तस्मिन् रत इत्यर्थः । इदानीं केवलं लीलाभिनिविष्टत्वेन स्वानुसन्धानाभावादन्यस्या इव स्वनामाप्युक्तवती । अन्यथा मदवरुन्धनेत्युक्तं स्यात् । इदं च यदा कदाचिद्भगवन्मिलनार्थमेव दिवसे भगवदर्थं पक्वान्नशिखरिणीनिःपोडितदधिशर्करासुश्रृतदुग्धताम्बूलचन्दनमालादिकं रहसि गृहीत्वा गोरसविक्रयमिषेण वने भगवन्निकटे कतिपयसखीभिः सहागता तदा गोपसहितो नाथस्तेषामज्ञानार्थं दानमिषेण सर्वा एवाकारितवांस्ततोऽन्याभ्यः किञ्चित्स्वेष्टं गृहीत्वा ताः प्रस्थाप्य यं बहु नयति तेन बहु ददाति चेत्तदा प्रस्थापनीयेति तेषु वदन् दर्शय किं वर्तत इतीमां वदति । न देयं च मया किञ्चिन्न दर्शनीयं न वा देयमिति समुदायाभिप्रायेण वदन्ती सस्मितं प्रियवदनमपश्यत्तत्स्मृत्वोक्तवती । रतत्वं तदेकपरत्वम् । तथा चैतदर्थमेव तत्र तिष्ठतीत्यर्थः । तदनन्तरं मयैकान्त इयं बोधनीया यथा ददाति तावद्भवन्तो गाश्चारयन्त्विति तानुक्त्वेमां निबिडकदम्बनिकुञ्जं नीत्वा तया सह तत्सर्वं भुक्त्वा यथेच्छं तत्रैव रेमे तदाह कदम्बेति कदम्बवनमेव मन्दिरं यस्य स तथा । बहुसंस्कारसंस्कृतं नानाविधचित्रं मन्दिरमुच्यते । तेनात्रापि विविधपुष्पदलैर्मालाभिश्च तल्पासनवितानद्वारतोरणभूमिकादयः प्रातरेव प्रेषिताभिः स्वसखीभिर्विरचिता इति सूचितम् ॥२४॥

तदनन्तरं दूतिभिरत्र भगवन्तं ज्ञात्वा येन केनचिद्व्याजेन सर्वास्तत्र समागताः ततस्ता अपि रेमे इति तत्स्मृत्वाह क्रमेण—

व्रजयोषित्सदाहृद्यो गोपीलोचनतारकः ।
जीवनानन्दरसिकः पूर्णानन्दकुतूहलः ॥२५॥

व्रजयोषिदिति सामान्योक्त्या सर्वा एव समागता इति ज्ञेयम् । तथा च व्रजयोषितां सदा हृत्सम्बन्धी तत्र स्थित्वा सर्वदा रमणकर्त्तेत्यर्थः । यद्वा – एतासां सर्वदा हृद्यः प्रिय इत्यर्थः । तेन भोगानन्तरं तादृश्यार्तिरस्ति न वेति शङ्का परिहृता । एताः सर्वदा हृद्या यस्येति वा ! तेनान्योन्यं तथात्वेन कदाचिदपि न वियोग इति सूचितम् । हृत्सम्बन्धीति व्याख्यानेपि बहुव्रीहिर्ज्ञेयः । तेन विपरीतमुक्तं भवति । तेन महासौरतं द्योतितम् । तत्र कदाचित्कौतुकार्थं तासां स्वस्य चेच्छया तासामेव नीव्यादिपरिधानेन तद्वेषमपि करोतीति ज्ञापनार्थं व्रजयोषिदिति पदमुक्त्वा मध्ये सदेत्युक्तम् । अन्यथा प्रथममेवोक्तं स्यात । एतद्वेषस्यातिगोप्यत्वेनैवं निरूपणम् । एवं भगवतो गोपीनां चान्योन्यमान्तरमुक्त्वा सर्वदैव रमणे हेतं वदन् बाह्यमप्याह गोपीलोचनतारकः । गोपीनां सर्वासामेव यानि लोचनानि तेषां तारकारूप इत्यर्थः । यथा सत्यपि गोलके तारकाच्छादनं चेस्यात्, न दृश्येत तथा भगवदसन्निधानं चेत्स्यात्तासां तदा स्वावलोकनमपि न स्यादित्यर्थः । अत एव सर्वदा तथेति भावः । उपलक्षणमेतत् । सर्वेन्द्रियविषयेष्वप्येवमेव । यद्वा – गोप्यो लोचनतारका यस्येति । यद्वा – गोपीलोचनानां तारक उद्धारक इत्यर्थः । विरहे लोचनानां जलसमुद्र इव निमग्नत्वेन भगवत्सम्बन्धराहित्येन तत्पारमिव गच्छतीति तथा । एतेन न हि कोपि निमज्जन्तं पश्यन् स्वयं समर्थः तदेकपरश्च नोद्धरति । क्षणविलम्बे एव तन्नाशात् । तेन मदुपेक्षा नोचितेति भावः सूचितः । यद्वा – पूर्वं स्वरूपनिरूपणे आननस्येन्दुत्वोक्त्या तस्य च तारकासाहित्यनियमेनास्येन्दोरेतान्येव तारकारूपाणीत्याह । गोपीलोचनानि तारका यस्येति । एतेन सर्वदा

दर्शनं सूचितम् । ननु यद्येवं तदा भवती कथं तिष्ठति भगवान् वा कथं तिष्ठतीत्याशङ्कायामाह जीवनानन्दरसिकः । जीवनरूप आनन्दो यस्य स तथा । स चासौ रसिकश्च इति कर्मधारयः । अथवा–तादृश आनन्दे रसिको रसज्ञ इत्यर्थः । तथा च भगवदीयानन्दस्यैव जीवनरूपत्वेन पूर्वदत्तस्यान्तःस्थितत्वेन मज्जीवनमात्रं न तु सुखं दुःखाभावो वा । सङ्गाभावस्य बलिष्ठत्वात् । तदुक्तम् – "जीवति परमिह तव रतिकलये" ति । यथा च विरहसन्तप्यमानायाः प्रियदौर्लभ्येन चात्यातुरायास्ततः प्रियसङ्गमे महान् रसो न तथा सार्वदिकेपि तस्मिन्निति तद्रसविशेषार्थं रसिकत्वेन भगवतः स्थितिरित्युभयस्थितौ हेतुद्वयमुक्तम् । यद्यपि भगवत्सङ्गमः सार्वदिकोपि तथैव तथापि रसमार्गस्थेन हि भगवता रसमार्गमर्यादा स्थाप्यते । सा च तादृश्येवेति तथोक्तम् । यद्वा – स्थलक्रीडामुक्त्वा जलक्रीडामाह जीवनेति । जीवनं जलं तत्सम्बन्धी य आनन्दो जलक्रीडारूपस्तस्मिन् रसिक इत्यर्थः । यद्वा – जीवनेन जलेनानन्दो येषां ते मत्स्यास्तद्वद्रसिको रसज्ञः । यथा ते जलं विना क्षणमपि न तिष्ठन्ति तथेमं रसं विना भगवान् न तिष्ठतीत्यर्थः । अत एवागमिष्यतीत्याशया तिष्ठामीति भावः । एवं क्रीडमुक्त्वा तदनन्तरं भगवान् उपविश्य तिष्ठन् वा या लीलाः कृतवान् ताः स्मृत्वाह पूर्णानन्दकुतूहलः । स्थलजलक्रीडादिना पूर्ण आनन्दो येषु गोपीजनेषु तेषु कुतूहलं क्रीडाविशेषो यस्य स तथा । एतच्च क्रीडाद्वयानन्तरं कन्दुकाकारान् पुष्पनिर्मितान् भगवान् गोपीषु प्रक्षिपत् ताश्च भगवति । तेन महानानन्दः सहास उत्पन्नस्तत्स्मृत्वोक्तम् । यद्वा – अवज्ञापूर्वकसोपहासलीला कुतूहलम् । तथा च पूर्णानन्दः कुतूहलेऽपि यस्येत्यर्थः । यद्वा – पूर्ण आनन्दो अस्मास्विति ज्ञानिनः पूर्णानन्दपदेनोच्यन्ते । तथा च ते कुतूहले उपहासे यस्येत्यर्थः । किमेतेक्षि मुद्रयन्ति किंवा शून्यं ध्यायन्तीति गोपीभिः सह भगवांस्तानुपहसतीति तथा ॥२५॥

एवं सर्वाधिकरसदातृत्वं निरूप्य क्रीडानन्तरमुपविष्टं स्मृत्वाह गोपिकेति—

गोपिकाकुचकस्तूरीपङ्किलः केलिलालसः ।
अलक्षितकुटीरस्थो राधासर्वस्वसम्पुटः ॥२६॥

गोपिकानां या कुचसम्बन्धिनी कस्तूरी तया पङ्किल इत्यर्थः । तस्याः पङ्कत्व महासौरते श्रमजलकणैः । एतेन भगवत्यपि श्रमः सूचितः । तथा च तद्व्याप्ताङ्गो यदा तासां सदस्युपविष्टोभवत्तदा सौन्दर्यमनिर्वचनीयमनुभूतमिति एवमुक्तवती । यद्वा – यदा सन्ध्यायामागमनमुक्त्वान्यत्र रात्रिं गमयित्वा प्रातरागत्य केनचिद्व्याजेन रात्रिरमणं गोपयत उरःस्थलं दृष्ट्वा तन्निश्चितवती तत्स्मृत्वेदमुक्तम् । यद्वा – गोपिकाकुचाः कस्तूरीपङ्किला येनेत्यर्थः । पूर्वं कस्तूरीपत्ररेखा अनार्द्राः स्थिताः, ततो भगवता रमणे कृते श्रमजजलकणैरार्द्रतायामाश्लेषादिना तथात्वम् । अथवा, सर्वाङ्गे भगवानेव तादृशस्तेनासंख्यगोपीरमणं सूचितं भवति । एतादृशबहुरमणेत्येकरस एवेत्याह केलिलालसः । केलिषु कामकेलिषु लालस इच्छापूर्तिरहित इत्यर्थः । यो हि यत्र लालसायुक्तः स तमर्थं यथाकथञ्चित्साधयति । तथा भगवानस्मिन्नंश इत्यर्थः । तेन सर्वदा तद्भाववत्त्वेन तत्प्रयत्नवत्त्वेन च सर्वदा रसदायीति सूचितम् । तासां सार्वदिको भावो व्रजयोषित्सदाहृद्य इति नाम्नैवोक्तः । अतो न रसाभावशङ्का । एतच्च कदाचिद्बहुरमणानन्तरमपि स्वस्मिन्मानवत्यां बहुधा चाटुकारान् कृत्वा मानयित्वा पुनर्बहुधा रेमे तत्स्मृत्वोक्तवती । यद्वा – बहुधा रमणे कृतेपि प्रियस्वरूपदर्शनादेव पूर्वस्मादप्यधिका लालसोत्पद्यत इति स्वानुभूतं स्मृत्वाह । तेषु लालसा यस्मात्स तथेति । ननु शङ्कायां सत्यां न रसोत्पत्तिः । अत्र चैवं स्वच्छन्दरमणे कोपि चेदागच्छेज्जानीयाद्वा तदा कथं स्यादित्यत आह अलक्षितकुटीरस्थः । न लक्षिता-

न्यपि केनापि कुतो दृष्टानि एतादृशानि यानि कुटीराणि लतागृहाणि तेषु तिष्ठतीति तथा । तेन कियत्कालमपश्यन्तो यद्यन्वेषमाणा आगच्छन्ति तदापि न जानन्तीति न रसविच्छेद कदापीति सूचितम् । वस्तुतः तेषां पार्श्वस्थबुद्धिरेव सततमतो नानुपपन्नं किञ्चित् । तथा चोक्तम् – "मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थानि"त्यादि । यद्वा – यत्र परितो लतागृहाणि मध्ये चोपवेशनस्थानम् , तत्र सर्वा आगच्छन्तु भवत्यो मयाप्यागम्यते इत्युक्त्वा तत्पूर्वमेव तत्र गत्वा एकस्मिन् गृहे गुप्तोऽतिष्ठत् , ततः सर्वा एतदजानन्त्यस्तत्रागत्य स्वरहःकथामन्योन्यं कुर्वाणा भगवान् यदा मिलिष्यति तदैवं कर्तव्यं मयेति ब्रुवाणा निर्धारितभगवदागमनप्रोद्यदुत्साहा अमर्यादं विजह्रुः । ततः कियत्कालानन्तरं भगवता लीलया सीत्कारविशेषे असाधारणे कृते तत्क्षणमेव सर्वासु तूष्णींभूतासु चकितनयनासु नाथोऽत्र कुत्रचिदस्ति शनैर्ब्रुवाणासु मध्ये अकस्मान्निकुञ्जान्निःसृतो यदा तदा सव्रीडहासपूर्वको भगवदवलोकनादिजनितो भावविशेषः समभूत् । नाथे समागते एवं करिष्यामीतिवत् त्वमेवं करिष्यसीति वदन् यथोक्तं तास्वाश्लेषादिकं कुर्वतो महत्सुखमनुभूतमिति तत्स्मृत्वाह । अलक्षितश्चासौ कुटीरस्थश्चेति । यद्वा – यदा कदाचित्स्वयं निकुञ्जे तल्पादिकं कुर्वाणासीत् तदा तत्पश्चाद्भागे मिलितां काञ्चन गोपीं प्रत्यङ्गीकृतावधानतया भगवानवदत् । त्वं पुलिनं याहि मया तत्रैवागन्तव्यं नान्यत्र गन्तव्यमिति । एतच्छ्रुत्वान्तःस्थैव अन्नत्रीन्मया तल्पादिकं विरचितमस्ति यावत्सा सर्वं करोति तावत्क्षणं कृत्वात्र भगवानागमिष्यतीति काकुस्वरेणैवोक्तवती । तच्छ्रुत्वा तदा चकित इव तत्रागत्य शनैश्चाटुकारान् कुर्वाणस्तत्रैव याहि मन्मनसि न विषादः, कौतुकार्थं परं मयोक्तमिति ब्रुवाणां बलादाश्लेषादिना वशीकृत्य तत्रैव बहुधा रेमे इति पूर्वानुभूतं स्मृत्वाह । न लक्षिता कुटीरस्था येन स तथेति । तेन तदा स्वनिर्बन्धेनैव मदर्थमेव तथा कृतमधुना

मन्निर्बन्धेन तथा कुर्विति भावः सूचितः । ननु कृतरमणो बहुस्त्री-वल्लभः प्रियो भवत्याः कदाचिदागमिष्यत्येव तावद्धैर्यं कार्यमिति ब्रुवाणां सखीमाह राधासर्वस्वसम्पुटः। यद्वा – अलक्षित कुटीर राधाया एव तस्य तथात्वे हेतुमाह राधेति। राधाया यत्सर्वस्वं तस्य सम्पुटः समुदित राधासर्वस्वरूप इत्यर्थः । यद्वा – यथा कृपणः सर्वस्वं यत्किञ्चित्सुवर्णादिकं सम्पुटे धृत्वा प्राणेभ्योप्यन्तरङ्गं कृत्वा सर्वदा रक्षति क्षणमप्यदृष्ट्वा च व्याकुलीभवति, तथा राधाया यत्सर्वस्व प्राणेन्द्रियान्तःकरणशरीरधनयौवनसौन्दर्यादिक तत्सर्वं भगवति समर्पितमिति वाक्यार्थः । एतादृशा धीरा कथ भवत्यदृष्ट्वेति भावः। अत एव कुटीरस्यालक्षितत्वकरणमित्यपि। अत्रापि पूर्ववदेव स्वनामग्रहणम्। सम्पुटपदेन राधैव जानाति। तथात्वेन नान्योपीति सूचितम् । यद्वा – राधा सर्वस्वसम्पुटरूपा यस्येत्युक्तार्थवैपरीत्यम् ॥२६॥

एवं स्वरमणमुक्त्वा "कृत्वा तावन्तमात्मान"मिति प्रकारेण रमणं तदेव कृत्वोपवेशनस्थाने समागत्य सर्वाभिः सहोपविष्टोऽभवत् तत्क्रमेण स्मृत्वाह वल्लवीति—

वल्लवीवदनाम्भोजमधुमत्तमधुव्रतः ।
निगूढरसविद्गोपीचित्ताह्लादककाननः ॥२७॥

वल्लवीनां यानि वदनाम्भोजानि तत्सम्बन्धीनि यानि मधूनि लावण्यामृतरसान्यधरामृतानि च तैर्मत्तोऽङ्गीकृततदन्यविस्मृतिः एतादृशमधुव्रतो भ्रमर इत्यर्थः । मत्तमधुव्रतत्वोक्त्या तासां सदासं उपविश्य ताभिः सह गानं करोतीति सूचितम् । मत्तस्य तस्य झङ्कारवत्त्वनियमात् । वदनानामम्भोजत्वनिरूपणेन तासां तदेकभोग्यत्वं सूचितम्। यो मध्येव व्रतयति नान्यत्स तथा। मत्तश्च नान्यं गणयति । भगवति च तत्त्वनिरूपणेन लावण्याधरामृतादेश्च मधुत्व-

निरूपणेन भगवतो गोपीभोगैकपरत्वम् । एतद्रसेनैव लक्ष्म्याद्यगणना च सूचिता । अत एव मर्यादातिक्रमोपि एतेनैव । ननु यद्येताद्दशो प्रिया भवती तदा भवतीं विहायाधुनान्यत्र कथमस्तीति शङ्का परिहृता, भ्रमरस्यैकत्रास्थितेः । परन्तु मम सर्वदा सरसत्वादागमिष्यत्येवेति महदवलम्बनेन जीवामीति भावः । अन्यत्र स्थितौ हेतुरुक्त एव । शीतलत्वसुरभित्वकोमलत्वातिसरसत्वादीन्यम्भोजपदेन सूचितानि । यद्वा—लोचनचुम्बनजनितनीलिमाधरमारात् दृष्ट्वा पूर्वं कदाचित् भ्रमरभ्रमस्तत्रासीद् गोपीमुखाम्भोजमधुमत्तोऽपि रसाधिक्येन भगवदधरमागत इति तत्स्मृत्वेदमुक्तम् । ताद्दशो मधुव्रतो यस्मिन्निति । अत्रामोदस्य तदनुगतिजनितसुखातिशयस्य च मधुव्रतत्वं ज्ञेयम् । यद्वा – मधुपदेन साधारणकमलमधूच्यते । तथा च वल्लवीवदनाम्भोजे मधुमत्तमधुव्रता यस्मादित्यर्थः । रतान्ते पद्मिनीनां पद्मगन्धो भवतीति तथा । तन्मत्तमधुव्रतानामप्यत्रागमनेनात्र तेभ्योऽधिकरसादिमत्त्वं सूचितम् । धर्मान्तरेणाऽपि मधुव्रतत्वमाह निगूढरसविदिति । नितरां गूढः गुप्तो यो रसस्तद्विद् ज्ञाता । यथा भ्रमरः कमलनालपत्रादिकं विहाय अन्तर्गुप्तं मकरन्दमेव पिबति जानातीति, तथा भगवानत्रैवं बन्धे कृतेऽयं रसः प्रादुर्भविष्यति, अत्रैवं नखदशनदानेऽयं रसो भविष्यतीति सर्वं जानातीत्यर्थः । तेन महारसभोक्तृत्वदातृत्वे सूचिते । ननु गोकुलेश्वरस्य सर्वभयरहितस्यैवं गुप्ततया रमणे को हेतुस्तत्राह निगूढेति । भावप्रधानोऽयं, निगूढत्वे यो रसस्तज्ज्ञाता इत्यर्थः । यथा गुप्ततया रमणे रसः न तथा प्रकटतया रमणे इति इममर्थं जानाति तेन तथा करोतीति भावः । यद्वा—यदा कदाचिद् गोपीवेषं कृत्वा उपरि महता वस्त्रेण मुखकमलमावृत्य तासां मध्ये उपविष्टे भगवति केचन गोपाला भगवानत्रास्तीति पृच्छन्तः समागताः ततश्चात्रान्यः पुरुष एव नास्तीति सर्वाभिरुत्तरं दत्तमिति तत्स्मृत्वाह निगूढेति । नितरां गूढस्ते यथा न जानन्ति

तथा गोपीवेशानुभूतरसज्ञाता चेति । एवं रतिकर्तारं निरूप्य तदनन्तरं जातपुष्पावचयक्रीडां स्मृत्वाह गोपीति । गोपीचित्तानामाह्लादकर्तृ काननं वनं यस्येत्यर्थः। तत्र प्रतिवृक्ष कोमलदलप्रसूनलतागृहजलक्रीडाह्लदावरणानि भगवता सहैकान्ते स्थातुं योग्यानि दृष्ट्वा आह्लादविशेष उत्पद्यत इति तथा । यद्वा – निगूढेत्याद्यकं नाम । तदा पूर्वं गोपीविशेषणम् । भगवत्पक्षोक्तार्था अत्राप्यनुसन्धेयाः । यद्वा – गोप्यश्चित्ते यस्य स तथा तस्याह्लादकं काननं यस्येत्यर्थः । एतच्च यदा प्रथममेव भगवद्गोप्योरन्योन्यमासक्तिस्तदा भगवान् क्वेदं रमणं कर्तव्यमिति विचारयन् वृन्दावनं दृष्ट्वा सन्तुष्टो जात इति तत्स्मृत्वोक्तम् – तदुक्तम्। "वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च । वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृपे"ति । कलानिधिरिति पाठे बहुव्रीहिः। कामकलानिधिरिति वार्थः। तस्मिन्निन्दुर्रति वार्थः। गोपीचित्ताह्लादे कलानिधिश्चन्द्र इत्यर्थः ॥२७॥

तदनन्तरं स्वयं गोपिकाभिः सह क्रमेण कालिन्दीपुलिनमासमन्तात् दृष्ट्वा वने निकुञ्जेषु क्रीडा कर्तव्या ततोऽत्रागत्य सर्वाभिः सहोपवेष्टव्यं जलक्रीडा च कर्तव्या इति वने क्रीडाकरणेऽपि तासां नान्योन्यदर्शनादिकं पुलिने तदपि भविष्यतीति विचार्यात्यानन्दितो जातस्तत्स्मृत्वाह कालिन्दीति—

कालिन्दीपुलिनानन्दी क्रीडाताण्डवपण्डितः ।
आभीरिकानवानङ्गरङ्गभूमिसुधाकरः ॥२८॥

कलिं द्यतीति कलिन्दः, तस्य कन्या कालिन्दी । तेन तासु अन्योन्यं सापत्न्यभावाभावः सूचितः । तस्याः यत्पुलिनं तस्मिन् य आनन्दः पूर्वोक्तस्तद्वानित्यर्थः । यद्वा – कालिन्दीपुलिनसम्बन्ध्यानन्दो रासरूपस्तद्वानिति तस्मिन्नानन्दित्वं यस्मादिति भावप्रधानो वा । तदनन्तरमेकस्वरूपेण बह्वीनां प्रत्येकस्वरूपेणाऽपि विलासं

कृतवांस्तदाह क्रीडाताण्डवपण्डितः । क्रीडारूपं यत्ताण्डवं तस्मिन्पण्डितोऽतिचतुर इत्यर्थः । ताण्डवं हि नियमरहितं नृत्यम् । क्रीडायां तत्त्वनिरूपणेन काञ्चिद्रमयति, अधरतामेव काञ्चित् त्यक्त्वान्यां परिरभ्यान्यां चुम्बति, काञ्चिन्निकटस्थां त्यक्त्वा दूरस्थां गृह्णातीत्यादि सूचितम् । अस्य रसशास्त्रोक्तमपि पण्डितत्वोक्त्यैवमपि तथैव करोति यथोत्तरोत्तरं रसाधिक्यं भवतीति सूचितम् । तदनन्तरं सर्वासु रेमे इत्याह–आभीरिकानवानङ्गरङ्गभूमिसुधाकरः । आभीरिकारूपा या नवानङ्गस्य नूतनकामस्य रङ्गभूमयः तत्सम्बन्धी सुधाकरश्चन्द्रमा, यया यया क्रीडया ताः प्रकाशिता आनन्दिता भवन्ति तत्तत्कर्तेत्यर्थः । नवत्वमस्य प्रसिद्धकामाद्भिन्नस्याधिदैविकत्वेन भगवत एव तथात्वेनैतास्वेव प्रकटत्वेन हृदग्धस्यैव चात्रैवोद्भवेन चेति । व्रजानङ्गनवाङ्कुर इति नाम्नि सहेतुनिरूपणं विस्तृतमस्माभिः । अत एव नवानङ्गपदम् । रणभूमिर्विलासभूमिश्च रङ्गभूमिरुच्यते । तेनैतासु रतिकौशलं सूचितम् । यद्वा – नवेति भूमिविशेषणम् । तथा चाभीरिकाणां नवा नूतना या अनङ्गरङ्गभूमय उरःप्रदेशास्तत्सम्बधिनी या सुधेव सुधा कामरस इति यावत् । तस्या आकरः स्थानम् । लौकिकश्चन्द्रो लौकिकसुधाकरत्वेन तथोच्यते । अयं त्वेतत्सुधाकरत्वेन तथेत्यर्थः । करपक्षेऽपि तथा । नवत्वेन कैशोरयौवनमध्यसमयः सूचितः । तेन पूर्वमचतुरा अपि भगवद्दर्शनमात्रेणैव रसशास्त्रनिपुणा भवन्तीत्युक्तम् । अत एवाभीरिकापदं पूर्वमुक्तम् । अग्रे विदग्धेति वदिष्यति । यद्वा – सामान्यक्रीडामुक्त्वा तल्पादिषु विशेषक्रीडामाह आभीरिकेति । तासां नवानङ्गसम्बन्धिन्यो या रङ्गभूमयः पुष्पादिशय्यास्तासु सुधाकरो दर्शनाश्लेषचुम्बनरमणनखादिमयूखैरखिलतापहारीत्यर्थः । एतेनान्धकारशङ्काप्रदीपाद्यपेक्षा च निरस्ता । यद्वा – पूर्वोक्तसुधायां सुधानिमित्तं करो यस्येति गोपीवक्षसि दत्तकरं स्मृत्वोक्तम् ।।२८।।

एवं भगवच्चातुर्ये उच्यमाने तदैव प्रकाशितं स्वचातुर्यं स्मृत्वाह विदग्धेति—

विदग्धगोपवनिताचित्ताकूतविनोदकृत् ।
नानोपायनपाणिस्वगोपनारीगणावृतः ॥२९॥

विदग्धा अतिचतुराः सर्वांशे या गोपवनितास्तासां चित्ते आकूता मनोरथत्वेन पूर्वं विचारिता ये विनोदास्तत्कृत तत्कारीत्यर्थः । दिवसे भगवान् रात्रौ यदा मिलिष्यति तदा एवं बन्धादिकं हास्यं च करिष्याम इति विचारितमात्रतत्तत्कर्तृत्वनिरूपणेन भगवांस्तासामर्थे कथनमपि नापेक्षत इति सूचितम् । तेनातिसरसत्वं रमणस्य सूचितम् । विदग्धत्वं भगवतैव न स्वत इति ज्ञापनार्थं गोपसम्बन्धनिरूपणम् । सर्वदा गोचारणरतानामनतिचतुरत्वात । यद्वा – तादृग्विनोदा भगवत एव । तथा च तादृश्यो वनिताश्चित्ताकूतविनोदकृतो यस्य स तथा । अपूर्वभाव आर्षः । यदा कदाचिद् भगवान् राधामाकार्यान्यव्यासङ्गं कारयित्वा चुम्बनं करिष्यामीति तदा समागतामङ्कमारोप्यापृच्छत् कः समाचार इति । तदा राधा भगवच्चुम्बनमकस्मात् कृत्वा अय समाचार इत्यवदत् तदा महान् विनोदो जात इति तत्स्मृत्वेदमुक्तम् । अत एव विनोदपदं दत्तम् । पूर्वोक्तार्थे एतद्वैपरीत्यं यदा जातमासीत्तत्स्मृत्वेदमुक्तं ज्ञेयम् । एवमेकान्ते कतिपयगोपीभिः सह रममाणे भगवत्यन्या गोप्यो नाथमेताभिरेव प्रेषिताभिः दूतीभिः पुलिनमागतं ज्ञात्वा विविधवस्तूनि गृहीत्वा तत्राजग्मुस्तत्स्मृत्वाह नानोपायनपाणिस्वगोपनारीगणावृतः । यद्वा – सर्वाभिरेव गोपीभिरेवं रमणानन्तरं श्रान्तं चिरं भुक्तं च ज्ञात्वा प्रियं शीघ्रमेव काञ्चन गत्वा सर्वां सामग्रीं गृहीत्वा जग्मुस्तत्स्मृत्वाह नानेति । नानाविधानि यान्युपायनानि शिखरिणीपक्वान्नशृतदुग्धादीन्यतिदृश्यानि ताम्बूलचन्दनकस्तूर्यादिसुगन्धद्रव्य-

वस्त्रमालापुष्पादीनि च तानि पाणिस्थानि यासामेतादृश्यो या गोप्यस्तासां ये गणाः समूहाः तैरावृत इति तथा । उपायनानां पाणिस्थत्वोक्त्या तासामागमनानन्तरं रमणस्थलं त्यक्त्वा यमुनानिकटेऽतिप्रशस्ते निबिडतरुच्छाये सर्वाभिः सहोपवेशनयोग्यस्थलं अग्रिमलीलार्थमेताभिर्वेष्टितोऽचलत् यदा स समयः सूचितः । गतावेव तथात्वात् । अन्यथा सामग्री तत्रैव धृता स्यात् । ताभिरावृतत्वेन मध्ये लीलागतिः सूच्यते । तदुक्तम् – "ततश्च कृष्णोपवने जलस्थले"त्यादि पद्येन । भगवदर्थमेता लौकिकवैदिकमर्यादामपि न मन्यन्ते । सर्वं त्यक्त्वा भजन्त्यत एव भगवानपि लोकवेदातीतं फलं ददातीति ज्ञापनाय गोपसम्बन्धनिरूपणम् । सर्वा अप्येवंविधा इति ज्ञापनाय यूथभेदज्ञापनाय वा गणपदम् ॥२९॥

एवं गतिं निरूप्य तत्र गत्वा यत्कृतवांस्तदाह वाञ्छेति—

वाञ्छाकल्पतरुः कामकलारसशिरोमणिः ।
कन्दर्पकोटिलावण्यः कोटीन्दुललितद्युतिः ॥३०॥

वाञ्छायां कल्पतरुस्तत्रायं भावः । तत्र कालिन्दीमुत्फुल्लकमलां कूजन्मयूरकलहंससारसां मध्ये नलिनीतटस्थविविधप्रसूनैः रमणार्थं विरचितस्थलीमिव भान्तीमतिधीरसमीरसेवितां दृष्ट्वा जलक्रीडेच्छाभूत् । तदा भगवान् जलक्रीडयैव श्रमं दूरीकर्तुं ता क्रीडा कृतवांस्तत्र च यथा यथा कामना तासां स्थिता तथैव कृतवानिति । तदुक्तम् – "ताभिर्युतः श्रममपोहितुमि"ति । वाञ्छापदेन ताभिरनुक्तमपि कृतवानिति सूचितम् । कल्पतरुत्वेन सर्वमनायासेनैव करोतीति कुर्वन्नपि अविकृत एवेति सूचितम् । यथा स देवैकभोग्यस्तथा एतदेकभोग्यत्वं भगवतः सूचितम् । एवं सामान्यतो जलक्रीडामुक्त्वा तत्रैव कृतं रमणं निरूपयति कामकलारसशिरोमणिः । कामरूपा या कला तत्सम्बन्धी यो रसस्तस्मिन् शिरोमणिः सर्वश्रेष्ठो न कोऽप्येवं

जानातीत्यर्थः। जले हि रतिः कठिना, तेन लौकिकालौकिकानुभावैः करोतीति तथा। कलात्वेन विचित्रत्वं द्योतितम् । कामकलारसानां शिरोमणिभूतस्ताहृशरसरूप एव इति वार्थः । उत्कर्षस्य सजातीय एव योग्यत्वात्। तन सर्वदा पूर्णरसत्व सूचितम् । यद्वा – स रसः शिरोमणिभूता येन स तथा। कामरसस्य पूर्वं पातहेतुत्वेन मर्यादायामतितुच्छत्वादधुनैव भगवता ब्रह्मानन्दमोक्षादेरप्यधिककरणात्तथा। एवं जलक्रीडानन्तरं तीरे समागत्याङ्गप्रोञ्छनानन्तरं वस्त्रादिकं परिधाय सर्वाभिः सहभोजनं चकार, तदनन्तरं ताम्बूलं भक्षयन्नुष्णीषकञ्चुकादिकं परिधाय तत्कृतासने उपविष्टः । ततस्तास्तिलकं कृत्वा कपोलतलमारभ्य सर्वाङ्गे चन्दन लिप्त्वा मालाः परिधाप्य भगवते स्वयमप्यन्योन्यं शृङ्गारतिलकाञ्जनादिकं कृत्वा पुष्पमालाः परिधाय परितो भगवत उपविष्टास्तन्मध्ये गतस्य शोभां स्मृत्वाह कन्दर्पकोटिलावण्य इति । कोटीत्युपलक्षणं, असंख्यकन्दर्पेभ्योप्यधिकं लावण्यं यस्येत्यर्थः। तथा चोक्तम् – "चकास गोपीपरिषद्गतो हरिस्त्रैलोक्यलक्ष्म्यैकपदं वपुर्दधदि"ति । एवं सौन्दर्ये निरूप्यमाणे रासपूर्वकालीनप्राकट्यानन्तरं पुलिने कृतासनोपविष्ट इति शोभां स्मृत्वा यथा तदा तत्रोपविश्य अङ्गसङ्गवाण्यादिभिः पूर्वविरहतापमपाकरोत्तथैवाधुनापि तापमपाकरोत्विति भावेन तत्कालीनामेव शोभामाह कोटीन्दुललितद्युतिरिति । कोटीति पूर्ववत्। तथा चासंख्येन्दुभ्योऽपि ललिता मनोहरा द्युतिर्यस्येत्यर्थः । तेन निर्मलत्वान्यप्रभानभिभाव्यत्वसर्वदैकरूपत्वगोपीवदनविकासकत्वादीनि सूचितानि। अत एव भगवदग्रे लीलोपयोगी न लौकिकश्चन्द्र उपयुज्यते। तुच्छप्रभस्योद्दीपनादावप्रयोजकत्वात् । किन्त्वलौकिको भगवन्मनोधिष्ठाता लीलोदयसमानकालोदयो लीलोपरतिसमानकालोपरमो मध्याकाशावधिमात्रगतिरस्तसमयरहित इत्येतत्सर्वं "तदोडुराजे"ति श्लोके निरूपितम् । किञ्च – तासां

रात्रीणां तस्या लीलायाश्च नित्यत्वेन का प्रत्याशास्येत्यलं विस्तरेण । द्युतेस्तथात्वनिरूपणेनाङ्गसङ्गं विनापि प्रसरद्भगवत्प्रभासम्बन्धादेव तापापगम इति सूचितम् । यस्य प्रभैवैतादृशी तत्सङ्गे किं वक्तव्यमिति भावः । यद्वा – रासे स्वनिकटस्थभगवत एव दर्शनेनान्यस्वरूपाणां रसार्थं भगवता प्रदर्शितत्वेन च तत्र तत्र प्रभामेवापश्यत् तां स्वनिकटस्थस्यैव भगवतोऽमन्यत् । तेन तत्स्मृत्वाह कोटीति ॥३०॥

एतादृशकरणे कोऽभिप्रायस्तत्राह—

जगत्त्रयमनोमोहकरो मन्मथमन्मथः ।
गोपसीमन्तिनीशश्वद्भावापेक्षापरायणः ॥३१॥

जगत्त्रयपदेन तत्र स्थिताः स्त्रिय एवोच्यन्ते । ता एव जगति सन्ति नान्ये येषां नायं मोहः । तेनान्येषामसत्त्वं मन्यन्ती ता एव जगत्पदेनोक्तवती । तथा च तासां मनसो मोहनं वशीकरणमिति यावत् । तदेव परममुद्देश्यं यस्य स तथा । यथैवैतद्भवति तथैव लीलां करोतीत्यर्थः । तथा चोक्तम् – "भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवे"दिति । तथा च मोहनमात्रस्योद्देश्यत्वेन तस्य च सम्पन्नत्वेनातः परं मद्वार्त्तामपि किमर्थं चालयिष्यतीति भावः । अथ स्त्रियस्तु कामेन स्वभावत एव पुरुषस्य वशे भवन्तीति किमाधिक्यं भगवतीति चेत्तत्राह मन्मथमन्मथः । मन्मथस्तु न कस्यापि वशी भवति किन्तु तस्य वशे सर्वे । सोप्यत्र वशे भवतीत्यर्थः । अधिकं किं वक्तव्यमिति भावः । यद्वा – रासपूर्वसामयिकविरहे जडेषु चेतनकार्यं भगवद्गतिज्ञानं मत्वा सर्वत्र प्रश्नकरणं तथैव लीलादिकरणं स्मृत्वाह एतादृक्स्वभाव एव भगवानित्याशयेन जगदिति । जगत्त्रयेऽपि यो मनोमोहो गोपीनां स एव पर उद्देश्यो यस्य स तथेति । तदनन्तरं क्रमेण प्रादुर्भूतं स्मृत्वा आह मन्मथमन्मथ इति । तत्राप्युक्तम् – "साक्षान्मन्मथमन्मथ" इति । तत्त्वेन प्रादुर्भावस्यायं

भावः । विरहस्योपमर्दित्वेन स्वभावत एवातिकठिनस्य प्रभावेन कामादिभावस्य तिरोहितत्वाद्भगवद्दर्शनमात्रेण न तदुद्भवः । तेन स्वयमेव तद्रूपेण प्रकटः । तथा च तद्रूपे च हृदयारूढे तदुद्भवोवश्यं भवति, तदैव च रसः अन्यथा रसाभासः स्यात् । अत एव श्रीभागवते "काचित्कराम्बुजमि"त्यादिना विरहजतापत्यागमुक्त्वाऽपि पुनर्भगवतो वाचः श्रुत्वा विरहजतापं जहुरित्युक्तम् । स च तापे सत्येव सङ्गच्छत इत्यलं विस्तरेण । नन्वेमपि कुतस्तत्राह गोपेति । गोपसीमन्तिन्याः शश्वत् सर्वदा यो भावः कामभावः अपेक्षा च, एते एव परायणे उद्देश्ये यस्येत्यर्थः । तेन तथा करोतीति भावः । यद्वा – तासां यः शश्वद्भावः सर्वदा निकटस्थितिरपेक्षा च इत्यग्रे पूर्ववत् । गोपसीमन्तिनीसम्बन्धिनो या शश्वद्भावस्य निकटस्थितेरपेक्षा तस्याः परायणो विषय इति वार्थः ॥३१॥

किञ्च भगवानपि तादृशधर्मवानेन येन क्षणमपि न त्यक्तुं शक्त इत्याह नवीनेति—

नवीनमधुरस्नेहः प्रेयसीप्रेमसञ्चयः ।

गोपीमनोरथाक्रान्तो नाट्यलीलाविशारदः ॥३२॥

नवीनः सर्वदा नूतनः मधुरश्च स्नेहो यस्येत्यर्थः । नूतनो हि प्रचुरो भवति । भगवदीयस्य च सर्वदैव नूतनत्वेन सदा तथात्वम् । मधुरत्वेनासक्तिहेतुता । नवत्वेनान्यासक्तिविस्मारकत्वमत्यभिलाषा च सूचिता । यद्वा – नवीनेषु नूतनेष्वेव मधुरः स्नेहो यस्येत्यतिदुःखेन ईषत्कुपितैवमवदत् । एवं भगवन्निष्ठं तादृश धर्मं निरूप्य स्वनिष्ठं निरूपयति प्रेयसीति । प्रेयसीनां भगवतः प्रियाणां गोपीनां प्रेम्णः सञ्चयो यत्र यथा कुतश्चित्प्राप्तं वस्तु एकत्र गुप्ततया स्थाप्यते तथा । पुत्रवित्तगेहदेहादिस्थितस्नेहो भगवति यथा न कोप्यन्यो जानाति तथा समर्पित इत्यर्थः । वस्तुतस्तु सर्वा अपि गोप्यो भगवत्प्राकट्यमत्र ज्ञात्वा सर्वाशां विहाय विगाढभावेन हृदय एव प्रेम्णः सञ्चयमकुर्वन् स एवा-

धुना प्रकटो भगवानित्यर्थः । अत एव श्रीभागवते "चिरात्त्वयि धृतामाशामि"त्युक्तमेताभिरेव । प्रेमसञ्चयरूपभगवत्प्रेयसीत्वनिरूपणेनैतासामपि भगवत्प्रेमसञ्चयरूपत्वं सूचितम् । यद्वा-कदाचिद्भगवान् राधागमिष्यतीति पुष्पचन्दनाञ्जननीवोकस्तूरीविविधभक्ष्यताम्बूलमालादिकं निकुञ्जे संगृह्य प्रतीक्षामकरोत्ततः समागतायां राधायां शृङ्गारं विधाय रेमे इति तत्स्मृत्वाह प्रेयसीति – प्रेयसीनां प्रेम्णा सञ्चयो यस्य स तथेति । एव बाह्यमुक्त्वैतत्कालीनमेवान्तरं स्मृत्वाह गोपीति – गोपीविषयको यो मनोरथ एवमेवं करिष्यामीति तेनाक्रान्तो व्याप्तोऽन्यभावरहित इत्यर्थः । यद्वा – ननु यदि भगवान् भक्तगृहे गतो भविष्यति तदा कथं प्राप्तिरित्यत आह । गोपीनामेव मनोरथेनाक्रान्त इति । तेनास्मद्व्यतिरिक्तभावस्य न तत्र प्रवेश इति भावः । एतेनेदं स्वरूपं तासामेवार्थं इति सूचितम् । अत एव श्रीभागवते "श्रुतिभिर्विमृग्यामि"त्युक्तम् । तदुक्तम् – "तासामाविरभूदि"ति । "एव मदर्थे"त्यादिनापीतीदमुदितं परमभाग्यवतैव विश्वसनीयमित्यल लिखनेन । यद्वा – यदा पूर्वमेव दर्शनानन्तरं स्वयं भगवदाश्लेषादिमनोरथव्याप्त्या विस्मृतगेहादिरासीत्तत्स्मृत्वाह । गोपीमनोरथाक्रान्ता येन स तथेति । गोपीमनोरथेनाक्रान्ता यस्मिन्निति विपरीतं वा स्मृत्वोक्तम् । एवं मनोरथ उच्यमाने पूर्वं यदा कदाचित्स्वमनोरथं भगवान् स्वनृत्यं दर्शयित्वा पूरितवांस्तत्स्मृत्वाह नाट्येति – नाट्यलीलायां विशारदः अतिचतुर इत्यर्थः । निरर्थकतत्तथ्थादिशब्दाद् नृत्यमपि सरसमिति ज्ञापनाय लीलात्वनिरूपणम् । यद्वा – नाट्यपदेन शास्त्रीयशुद्धमार्ग उच्यते, लीलापदेन देशीयनृत्यमुच्यते, तेन नाट्ये लीलायां च तथेत्यर्थः । यद्वा – कदाचिद्राधया भगवदग्रे क्रियमाणे नृत्ये प्रतिपदं साधु साध्विति सशिरःकम्पं सानुरागेक्षण प्रशंसते भगवानतिप्रमोदेनाकार्याश्लेषमपि करोति तत्स्मृत्वोक्तम् । पूर्वोक्ते विशारदोऽतिरसिकज्ञाता इति । तत्र तादृश्यो यस्मादिति वा । भगवान् स्वयं नृत्यं कृत्वा तथा शिक्षयतीति

तथा ॥३२॥

एवं भगवन्नृत्यं सरसं निरूप्य तत्सरसतायां हेतुं वदंस्तत्कालीनमेवार्थं निरूपयति—

प्रत्यङ्गरभसावेशप्रमदाप्राणवल्लभः ।
रासोल्लासमदोन्मत्तो राधिकारतिलम्पटः ॥३३॥

नृत्ये प्रतिपदाभिनयप्रदर्शनेच्छाजनित उत्साहविशेषो रसपदेनोच्यते । तथा च प्रत्यङ्गं रभसावेशो यस्य स तथेत्यर्थः तेन सर्वत्राभिनये ताद्रूप्यमेव भवतीति सूचितम् । अत एवातिसरसतेति भावः । तेनेदं देशीयनृत्यं निरूपित भवति । तेनारम्भे शुद्धमार्गीयं पश्चाद्देशीयं नृत्यमिति परिस्थितिः सूचिता । एवं द्रष्टृत्वेन काश्चिदग्रे उपवेश्य नृत्यं कुर्वन्नतिरसोद्गमे राधया सह नृत्यं चकार तत्स्मृत्वाह प्रमदेति – प्रकृष्टो मदो यस्याः तस्याः प्राणेभ्योऽपि वल्लभः प्रिय इत्यर्थः । यथा भगवान् रभसयुक्तस्तथैव राधापीति ज्ञापनाय प्रमदापदम् । उभयोस्तुल्यतायामेव सरसतेति तथा । यद्वा – प्रमदा प्राणवल्लभा यस्य स तथेति । यद्वा – प्रत्यङ्गेत्यादिना रमणसामयिक एव भगवानुच्यते । तदा प्राणपदं बलपरमपि ज्ञेयमिति दिक् । यद्वा—रासपूर्वकालान्तर्धानानन्तरप्राकट्यानन्तरं को वेदाधुनाऽपि कुत्रचिद्भगवानागच्छेत्तदान्वेषणार्थमपि प्राणान् स्थापयिष्याम इति वियोगभीरुतया प्राणेभ्योप्यन्तः स्थापयन्तीति स्मृत्वेदमुक्तम् । स्थापने सामर्थ्यसूचनाय प्रमदेतिपदम् । एवं स्वप्रमदात्व निरूप्य भगवतोऽपि तथात्वं निरूपयति रासोल्लासमदोन्मत्त इति । रासरूपो य उल्लासः उत्साहस्तस्मिन् यो मदस्तेनोन्मत्तस्तदेकरसपूर्त्या उल्लंघितमर्यादो विस्मृतस्वात्मारामत्वब्रह्मत्वपूर्णकामत्वादिरित्यर्थः । अत एव श्रीभागवते "यथा मदच्युद्‌र्द्विरद" इति दृष्टान्तः । मत्तस्यैव तथात्वात् । यद्वा – रासोल्लासमदोन्मत्ता गोप्यो यस्मादित्यर्थः । तथा चोक्तम् – "तदङ्गसङ्गप्रमदे"ति श्लोकेन । रासस्येतरविस्मा-

एकत्वैकस्वभावत्वनिरूपणार्थं मदपदम् । नन्वेतादृशस्य भवत्याः स्मरणं कथमित्यत आह राधिकारतिलम्पटः – राधाया या रतिः रमणं तस्यां लम्पटस्त्यक्तुमशक्त इत्यर्थः । यद्वा – राधिका रतिलम्पटा यस्मिन्स तथेति । यद्वा – कदाचिद्दिवसे निकुञ्जपुष्पतल्पे चिरं रमणं कृत्वाश्लिष्ट एव शयनं कृतवान् तदा काचित्प्रणयभरामृतजलधिवीचिवर्णावलीभिस्तत्र सुप्तं जानन्तो पश्चाद्भागे स्थित्वा निर्भरराधानिजस्नेहोत्साहवशंवदमानसा गोपी पृच्छतीव रसार्थं जगाद राधिकारतिलम्पटोऽत्रास्तीति । तदाथसुप्तोत्थितेदं श्रुत्वा राधा भगवानप्यतिप्रमोदेन वस्त्रग्रहणजनितकङ्कणझणत्कारेण ज्ञापितवती । ततः समागतां गोपोमेकान्ते स्वनामसम्बन्धेन प्रियनामोक्त्या सन्तुष्टा भगवद्रसचिह्नादिनिभृतस्वालिङ्गनेनातिनिर्वृतां प्रत्येकान्तर्वार्तामवदत्, तदा महान्रसोनुभूत इति तत्स्मृत्वेदं नमोक्तम् । यद्वा – अन्यत्रावधिं कृत्वा सम्पूर्णां रात्रिं स्वनिकट एव निषेवे, ततः प्रातः स्वकण्ठे भुजं प्रक्षिप्य चुम्बनादिकं कुर्वन्नेव स्खलद्गतिघूर्णायमाननयनस्तद्गोपीगृहे समागतस्तदारात्तत्सख्यो भगवन्तं दृष्ट्वा नाथ आयातीत्यब्रुवंस्ततो दर्शनार्त्या मानं कर्तुमशक्ताऽपि रसस्वाभाव्यान्मिथ्यैव वदनं गोपयस्तूष्णीमतिष्ठत् । तदा भगवन्तमागतमनेकचाटुकारान् कुर्वाणं सपुलकमञ्चलेन स्वरादिकं प्रोञ्च्या गोपयन्त्यप्यगोप्यतया सर्वांगीणपुलकैरसमशरशरैरिव खिन्नमात्मानं काकुना तदेकदासीत्वं च ज्ञापयन्ती चाब्रवीत् । भगवान् राधिकारतिलम्पटः कुतो मत्समीपमागमिष्यतीति राधिकाप्राणतया स्वस्य तद्रमणेनैव सन्तुष्टाऽपि नूपुरसिञ्जितै राधिकागमनं जानन्त्यजानन्तीव, तदा राधा तच्चिबुकं धृत्वा मानं कुरु परं सकृन्मुखचन्द्रं दर्शयेति वदन्ती वदनमुन्नतं चकार । इयं च राधां रसेन चिह्नैश्च पूर्णां दृष्ट्वातिप्रमोदेन मानिनीव राधाश्लेषमकरोत् । तदा भगवतोभयोरेकदैवाश्लेषे कृते प्रहस्य तादृशप्रियदर्शनप्रमोदभरवशा नाथमप्यालिङ्गितवती तदा भगवता तस्यै महान्रसो दत्त इति स्वयमति-

सन्तुष्टाभवत् । तत्स्मृत्वेदं नामोक्तमधुनाप्यागच्छेति भावेन ॥३३॥

एवं स्वरमणोत्तरसमयं स्मृत्वाक्त्वा रमणसमयं स्मृत्वाह खेलेति—

खेलालीलापरिश्रान्तः स्वेदाङ्कुरचिताननः ।
गोपिकाङ्कालसः श्रीमन्मलयानिलसेवितः ॥३४॥

खेला क्रीडा तस्यां या लीला बन्धादिरूपा तया परिश्रान्त इत्यर्थः । यद्वा – कदाचिद्भगवान् राधा च रहसि यस्य जयः स एवमेवं चुम्बनबन्धादिकं स्वानुगुणं करिष्यतीति स्वानुरूपं पणबन्धं कृत्वाक्षादिभिः खेलनमकुरुताम् , तत्खेलापदेनोच्यते । ततो भगवतो राधायाश्च पर्यायेण जयानन्तरं स्वस्वजयानुरूपा या लीला पूर्वोक्तरूपा तत्रोभयानुरूपतत्रतत्करणात् परितः श्रान्तो जात इति तथा । यद्यप्येवं स्वस्यापि श्रमस्तथापि रसाधिक्ये स्त्री पुम्भावमापद्यत इति स्वश्रममन्यमानयोक्तम् । तेन विपरीतमपि सूचितम् । यद्वा – तत्र परिश्रान्ताप्यपरिश्रान्ता येन स तथा । तदुक्तम् – "तासामतिविहारेणे"ति श्लोकेन । "तत्कररुहस्पर्शप्रमोदा" इति च । "ताभिर्युतः श्रममपोहितुं श्रान्तो वाऽविशदि"ति च । यद्यपि नायकश्रमो नायिकाया नेष्टस्तथाऽपि भगवानेवमप्यतिमोहनः सुखद इत्यभिप्रायेण निरूपितम् । तथा चोक्तम् – "उत्सवं श्रमरुचाऽपि दृशीनामुन्नयन्नि"ति । यत्र तदपि श्रमे एवं तत्रैतादृशश्रमे किं वक्तव्यमिति भावः । अत्र रसिकेन स्वयमेवानेकेऽर्था ज्ञेया इत्यलं विस्तरेण । श्रमकार्यमाह स्वेदाङ्कुरचिताननः । स्वेदस्य प्रस्वेदस्याङ्कुराः सूक्ष्मजलकणास्तैश्चितं व्याप्तमाननं यस्य स तथा । तस्मिन् समये मुखारविन्दमेव दृष्टिपथमिति प्रथमं तत्रैवं तदुद्भवेन च मुखकमलमेवोक्तम् । तेन मुक्ताफलैरिव तैरतिशोभा सूचिता । अङ्कुरोक्त्या क्षणानन्तरं त एव किञ्चित्पुष्टा भवन्तीति सूचितम् । एतादृशस्य स्पर्शचुम्बनादिहेतुत्वेन विभावकत्वं सूचितं भवति । तादृशान्याननानि गोपीनां यस्मादिति वा । क्रमेण रतान्तसामयिकं नाथं निरू-

पयति गोपिकाङ्कालस इति । गोपिकाया अङ्के अलस इव अलसो निष्पन्दं क्षणमात्रं तत्र स्थित इत्यर्थः। तत्र निसर्गात्सुखमिति न्यायेन तदा सुखातिशयात्तथा। यद्वा – पूर्वनाम्नैव रतान्तमुक्त्वा पश्चाद्बहिरुपवेशनस्थाने समागत्य गोपिकाङ्क एवोपविष्टस्तदुपष्टब्ध एव । तदुक्तम् "गोपिकाङ्कालस" इति नाम्ना। यद्वा – उरवोऽङ्कास्ते यथा शिथिलगतयस्तथा भगवानपि तदेत्याह गोपिकाङ्कवत्तथेति । एतेन तास्तान्यथा बलाच्चालयन्ति तथा नाथमपि बलात् स्वक्रोडे समारूढं स्वगृहमेकान्तं नीत्वाभ्यङ्गादिकं कुर्वन्तीति सूचितम्। ततः श्रमापगममाह श्रीमन्मलयानिलसेवित इति। श्रीमान् यो मलयसम्बन्ध्यनिलस्तेन सेवित इत्यर्थः। सेवनेन मान्द्यम्, मलयसम्बन्धेन सौरभ्यं, श्रीमत्पदेन शैत्यं च सूचितम् । श्रीः लक्ष्मीः तद्वानित्यर्थः । अस्य कालिन्दीसूक्ष्मकणविभावकत्वादयो धनम् । तेनैव तादृशश्रमेऽपि तथात्वेनालौकिकसामर्थ्यं सूचितम्। यद्वा – अत्र लक्ष्मीः प्राप्तस्वावसरा रतानन्तरमपि व्यजनाद्यर्थमपि ममोपयोगो भवेदिति तदागत्य वृक्षान्तरा स्थित्वा भयेन लज्जया चात्मानं गोपयन्त्यपश्यत्। तत्रापि स्वानुपयोगं दृष्ट्वा तत्रैव पश्यन्त्येव दक्षिणस्यां दिशि स्थिता । तदा मलयानिलत्वेन तत एव समागच्छंस्तन्मुखामोदविशेषमपि गृहीत्वायाति तदा मध्ये श्रीमान् भवतीत्यत उक्तं श्रीमदिति । अत एव श्रीभागवते "श्रयत इन्दिरा" इत्युक्तम्। अत एव भगवता गोपिकाङ्कस्थित्या तदुपविष्टम्भेन च गोपिकावश्यत्वं श्रियै ज्ञापितमित्यलं विस्तरेण। एतन्नामोक्तिसमानकालमेव भगवान् प्रकटो जात इति ज्ञेयम् । अत एव तदातिशयशोभां भगवतो दृष्ट्वा श्रीमदित्युक्तम् । पूर्वानुसन्धानेन त्वरागमनैर्द्वित्रितयश्रमकणानां च सत्त्वेन मलयानिलसेवित इत्युक्तम्। तेन कर्मधारयो ज्ञेयः ॥२४॥

अत एव फलं जातमिति ज्ञापनार्थमेव फलश्रुतिमाह इत्येवमिति—

इत्येवं प्राणनाथस्य प्रेमामृतरसायनम् ।
यः पठेच्छ्रावयेद्वापि स प्रेम्णि प्रमिलेद्ध्रुवम् ॥२५॥

इतीति समाप्तौ । एवंभूतं पूर्वोक्तरूपं यत्तत्प्रेमरूपो योऽमृतरसस्तस्यायनं स्थानमित्यर्थः । यद्वा – प्रेमसम्बन्धि अमृतरूपं रसायनं महौषधं प्रेमकृतव्यथायां व्यथानिवृत्त्युपायमित्यर्थः । अमृतत्वेनानुभवदशायामपि सुखदं नान्यवद्दुःखदमिति सूचितम् । उक्तावपि हेतुरुक्तोऽनेन । भगवन्निष्ठं हेतुमाह प्राणनाथस्येति । प्राणानां स एव नाथो रक्षकत्वादिमद्धर्मवान् । तेन प्राणरक्षार्थमेवैतन्निरूपितमिति सूचितम् । यद्वा – एवं पूर्वोक्तं प्राणनाथस्य प्रेमरूपमित्यर्थः । अन्तःस्थित प्रेमैवैतद्रूपेणैव प्रकटमिति हृदयम् । तद्विशेषणममृतेति । अमृतस्य रसानां योऽयनं स्थानमित्यर्थः । विषयमुक्त्वा विधेयं वदन्नेव फलमाह यः पठेदिति । सामान्योक्त्या नात्र वर्णादिनियम इति सूचितम् । वेत्यनादरे, तेन श्रवणं कीर्तनं स्मरणं वा भवतु किन्त्वैतन्निष्ठत्वमेवापेक्षत इति भावार्थः सूचितः । अपिशब्देन समुच्चयेऽपि तथात्वं सूचितम् । स प्रेमरूपत्वादस्य प्रेम्णि भगवत्प्रेम्णि प्रकर्षेण मिलेन्मिलति । तद्वान् भवतीत्यर्थः । पुल्लिङ्गनिर्देशः स्वातन्त्र्यपरः । तेन स्त्रियामपि तथा । प्रकर्षेण प्रेमौत्कट्यं येन क्षणमपि न वियोगं सहते । यथा गोपीनां तथेति । अविनाशिफलं भवतीत्याह ध्रुवमिति, क्रियाविशेषणम् । सत्यमिति वा, नात्र सन्देह इति भावः ।

| तदेतत्सर्वस्वं निजहृदि निगूढं व्रजवधू.–प्रसादश्रीभाजि प्रणयिरसिकानामतिमुदे । प्रयत्नेन स्वेन प्रकटितमजस्रं मयि तरां, व्रजश्रीसौभाग्यं झटिति विदधातु प्रियतमम् ॥१॥ यद्यप्यतिगोप्यत्वादनुचितमेतत्प्रकाशनं नूनम् । महदौषधमनुपानश्रितमेव तथेति तद्रचितम् ॥२॥ प्रार्थये रसिकाः स्वैरं पश्यन्त्विदमहर्निशम् । एतद्रसानभिज्ञस्तु मा द्राक्षीदपि वैष्णवः ॥३॥ इति वृन्दावनाम्भोधिचन्द्रदास्यार्थिना कृतम्–प्रेमामृतौषधस्येदं विट्ठलेनानुपानकम् ॥४॥ [

इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचितं प्रेमामृतविवरणं सम्पूर्णम् ।

❀ श्रीगौरसुन्दराय नमः ❀

"जयति श्रीमती काचिद्बृन्दारण्यविहारिणी।
विधातुस्तरुणीसृष्टिकौशलश्रीरिहोज्ज्वला" ॥

अथ कुसुमवननिवासिना कृष्णदासेन श्रीमन्महाप्रभुकृष्णचैतन्यदेवमुखपद्मविनिर्गत- "प्रेमामृतरसायनस्तोत्रे" श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचितविवरणस्यानुवादो क्रियते ।

तारुण्य-कैशोर-लावण्यादि से गठित स्वरूप, परस्पर प्रीति-युक्त, गोपी-माधव के नेत्रों को नमस्कार ॥१॥

हम अपने प्राणाधार, श्रीवृषभानुनन्दिनी राधिका के द्वारा गाये गये इस निजप्रेमामृतस्तोत्र में विराजित श्रीकृष्ण के नामों की समयानुसार यथाबुद्धि कुछ व्याख्या करते हैं ।

इस रस के रसिकजनों के मनः सन्तोषार्थ, राधिका के द्वारा कहे हुए नामों को क्रम से प्रकट कराने के लिये पहले भूमिका रूप से नामोत्थान का प्रकार कहते हैं एकदा इस प्रकार—

जिस समय श्रीराधिका का मान हुआ था उस समय । किसी एक समय श्रीराधिका मानिनी हुईं, श्रीकृष्ण ने उस समय मान को दूर करने के लिये यत्न किया, परन्तु राधिका ने मान को नहीं छोड़ा, क्यों कि मान का ऐसा ही स्वभाव है। श्रीकृष्ण भी उस समय दूती आदिक प्रेरणा के द्वारा सम्मान देने के विचार से निकुञ्ज के लिये चले गये । यहाँ "एकदा" इस पद से वह समय कहा गया है। इस से अभी भी गोपियों के साथ श्रीकृष्ण पहले की भाँति क्रीड़ा करते हैं यह सूचित होता है । मानादिक केवल सम्भोग पुष्टि के लिये होते हैं। "एक समय कृष्ण विरह से" इस समस्त पद से पर-

वर्त्ती समय में मिलन की सूचना हो रही है । परमानन्दमय विरह में दुःख का होना उचित है इस का ज्ञापनार्थ यहाँ कृष्ण शब्द कहा गया है। तात्पर्य्य-वे गोपीजनवल्लभ कृष्ण बहु नायिका रत हैं । अतः उन का विरह होना कोई असम्भव नहीं है । उनका विरह-दुःख उन के सगम से ही चला जायगा इस प्रकार निश्चय कर के "अभी तो वह संगम अभाव-रूप है" ऐसा मान कर विरहदुःख के अपगम के लिये प्रियसंगम का ध्यान करने लगीं, 'ध्यायन्ती" इस पद से यह कहा गया है। प्रीति ही दुःख का कारण है, प्रिय से ही दुःख की निवृत्ति होती है इस का ज्ञापनार्थ यहाँ प्रियपद का प्रयोग है। अथवा भगवान् ही प्रिय हैं, अन्य समस्त अप्रिय हैं, उन्हीं का ही ध्यान होना चाहिये अन्य का नहीं, ऐसा जताने के लिये प्रिय-पद है। किम्बा प्रियसंगम अर्थात् प्रियसंगम के उपाय समूह को ध्यान करती हुई । "एकदा" इस पद से जब कोई सखी तक भी नहीं रही उस समय यह सूचित होता है । अतः वह किस से दुःख निवेदन कर सकती थीं, मन में ही विरहवाष्प पूर्ण हो गया है, उसके निरसन के लिये ये आगे वक्षमाण वचनों को स्वयं ही कीर्त्तन कर रही हैं किन्तु किसी के समक्ष प्रकाश नहीं करती हैं । स्वयं जपने पर उस से मनःवाष्प बाहर निकल सकता है, उससे कुछ स्वस्थ हो जावेगा इस भावना से। यहाँ "जल्पन" पद से बिकलता सूचित हो रही है। एक बार बोलने पर मूर्च्छा आ जाती है, फिर किसी प्रकार सज्ञाप्राप्त होने पर पुनः जपती है ऐसा दिखाने के लिये मुहुः पद दिया गया है। दो बार "मुहुः" शब्द से जल्पन-मूर्च्छा-जागरण-पुनः जल्पनों के क्रम से बार बार आवृत्ति है ऐसा जानना चाहिये। यह जल्पना सगम के साधन रूप है । जिस प्रकार रास-पचाध्यायी में "गोपीगीत" है । गोपीगीत के पश्चात् श्रीकृष्ण का प्राकट्य हुआ था ॥१॥

अब जल्पित का वर्णन करते हैं "कृष्ण" इत्यादिक पद्यों से। स्त्रियों के लिये प्रादुर्भूत भगवान् कृष्ण शब्द वाच्य हैं। "कृष्ण" इस पद का अर्थ कहीं कहीं विस्तारित रूप से कहा गया है। "कृषि-र्भूवाचक" इत्यादिक श्लोकों से परमानन्दवाचक रूप करके निर्देश है। "वे कृष्ण हम सब व्रजबालाओं के हितार्थ प्रकटित हैं एवं उन का स्वरूप परमानन्दमय है परन्तु वे हमारे दुःख को नहीं देख रहे हैं" ऐसा भाव कृष्ण पद से सिद्ध हो रहा है। स्वरूप (धर्मी) से इस प्रकार कह कर अब धर्मों के द्वारा उस प्रकार बोलती हुईं, अपने को तारका रूप में भावना करती हुईं, अपनी प्रियता के कारण अपने के द्वारा परिवेष्टित भगवान् के नाम को कहती हैं— "कृष्णेन्दु" इत्यादिक से। श्यामचन्द्रमा के कारण श्रीकृष्ण अलौकिक रूप में विराजमान हैं। उससे तारका-स्वरूप गोपियों का भी अलौकिकत्व सिद्ध हो रहा है एवं कृष्णचन्द्रमा में निष्कलंकत्व, सर्वदा परिपूर्णत्व, परम आल्हादकत्व प्रभृति सूचित हो रहे हैं। इस प्रकार धर्म-धर्मी भाव को कह कर अब धर्म भाव को कहती हैं—

आनन्द इस पद से। पहले आपने अपने लिये प्रकट होकर चन्द्रमा रूप से पूर्व विरह ताप का नाश करते हुए आनन्द से ब्रज-बालाओं को परिपूर्ण किया यह कृष्ण, कृष्णेन्दु, आनन्द इन तीनों नामों से कहा गया। "वर्त्तमान में भी उसी प्रकार कीजिये" इस उद्देश्य से पूर्व कथित स्वार्थ प्राकट्य के प्रमाण रूप नाम को कहती हैं "गोविन्द" इस प्रकार से। यह नाम उस विषय में प्रमाण रूप है। गोविन्द नाम रखने के पश्चात् इन्द्रादि देवता ने हम सब के पति रूप से उनको अभिषिक्त किया है, नहीं तो इन्द्रादिक अपने पति भगवान् को हमारे पति रूप से क्यों अभिषिक्त करते। इसी लिये ही हम सब का परित्याग करके, लक्ष्मी आदि रमणियों में भगवान्

का भजन नहीं है, यह उचित है । और भी पहले चन्द्रमा रूप से निरूपण करके वर्त्तमान इन्द्र रूप से कथन का यह तात्पर्य्य है कि—जिस प्रकार इन्द्रभर्त्तृ का अर्थात् ऐन्द्री (प्राची) दिशा में चन्द्रमा का उदय नियमित है ठीक उसी प्रकार गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण का गोकुल में ही प्राकट्य है, अन्यत्र मथुरादि में नहीं है। और भी चन्द्रोदय का कार्य्य मार्गादि प्रकाश करने का है । श्रीकृष्ण के अलौकिकत्व होने के कारण अलौकिक प्रकाश है । वह मार्ग भजन रूप है जो ब्रह्मादि में अति दुर्ल्लभ है, वह भजनमार्ग हम सब में ही प्रकाशमान है, अन्यत्र नहीं है।

यद्यपि वे अन्यत्र स्वयं प्रकट हो कर अपने मार्ग का प्रकाश करते हैं, किन्तु जिस प्रकार हम सब में प्रकट हैं वहाँ उस प्रकार नहीं है। इस लिये, गो पद का उपलक्ष है। जैसा कि कहा गया है—"इस प्रकार इन्द्र ने गो-गोकुल के स्थान (आधार) गोविन्द का अभिषेचन किया"। इसके अनन्तर अपने दुःख दर्शन में अक्षमता का कारण रूप नाम कहती हैं—"गोकुलोत्सव" इस प्रकार से । जो जहाँ उत्सव स्वरूप है, जहाँ जिन के द्वारा उत्सव होता है, वे वहाँ के दुःख को किस प्रकार देख सकते हैं ? ऐसा भाव है। अच्छा ? वे सर्वेश्वर हैं, उन का किस प्रकार केवल गोकुल में उत्सवत्व है ? तो कहती हैं—'गोपालः" इस प्रकार से । वे सब के ईश्वर एवं पुरुषोत्तम होते हुए भी स्व यं गोपाल रूप में प्रकट हुए हैं। इस लिये वे हम सब के ही पक्षपाती हैं अन्यत्र नहीं हैं । अतः "गोपान् लाति आदत्त आत्मीयतया स्वीकरोति" अर्थात् गोपों को आत्मीय रूप से स्वीकार करते हैं यह गोपाल शब्द का अर्थ है। अब सामान्यतया श्रीकृष्ण का स्वामित्व कह कर विशेष रूप से कहती हैं-"गोप गोपीश" इस शब्द से । गोप अर्थात् वयस्यों के तथा गोपियों के ईश अर्थात् स्वामी हैं । किम्बा गोपों के सम्बन्ध प्राप्त जो गोपियाँ अर्थात्

गोपभार्य्याएँ उन सब के स्वामी ऐसा अर्थ है। अतएव वे केवल कुमारिकाओं के स्वामी नहीं हैं परन्तु समस्त ब्रजगोपियों के स्वामी हैं यह भावार्थ है।

स्त्रियों के पति कह कर पुनः वृद्धों के भी पति हैं उसे कहती हैं "वल्लवेन्द्र" इस पद से। वल्लव अर्थात् कुलवृद्ध गोपों के इन्द्र अर्थात् कुलदैवत हैं। जैसा कि कहा है—"मार्ग में वृद्धों से वन्दित चरण" इत्यादिक। नहीं तो उनके द्वारा वन्दित चरण नहीं हो सकते। इसके आगे कहाँ तक मैं गणना कर सकती हूँ, पशु-तृण-तक समस्त ब्रज के वे ईश्वर हैं इस भावना को ले कर श्रीराधिका कहने लगीं कि "ब्रजेश्वरः" इस पद से। ईश्वर अर्थात् राजा की भाँति नियामक हैं। अतएव गोपगोपीश, वल्लवेन्द्र, ब्रजेश्वर इन तीनों नाम से क्रमतः गोकुल में श्रीकृष्ण के भर्तृत्व, पूज्यत्व, तथा राजत्व सुसिद्ध हैं। सर्व प्रकार गोकुल में भगवान् का स्वामित्व तथा सब से गोकुल का उत्कर्ष सूचित हो रहा है। अन्यत्र इन तीनों का एक ही साथ अभाव है अतः भगवद्भक्तों के विभाजन (विभाग) है अर्थात् उत्कर्ष अपकर्ष रूप से भेद प्राप्त है। इस से व्यतिरेक अलंकार भी सिद्ध हो रहा है। जिस प्रकार जगत श्रीकृष्ण से निर्मित है अतः वे जगत् के ईश्वर हैं ठीक उसी प्रकार यह समस्त ब्रज इस रसमय विग्रह के द्वारा निर्म्मित हैं किन्तु साधारण निर्माता के स्वरूप से नहीं हैं ईश्वर पद से यह अर्थ सूचित होता है। वाराहभगवान् ने कहा है–"मथुरामण्डल की यह सृष्टि अन्य प्रकार है जो कि विधाता सृष्टि के बाहर है।"

अर्थात् प्रपञ्च जगत् की सृष्टि जड़रूप माया के द्वारा होती है परन्तु वैकुण्ठादि की सृष्टि चिद्विलास रूपिणी महाशक्ति (स्वरूप शक्ति) के द्वारा है। ठीक उसी प्रकार ब्रज की सृष्टि श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति के द्वारा है ॥२॥

अच्छा, यदि ऐसा है तब वे स्वयं कभी आकर मिलेंगे, उत्सुक होने की आवश्यकता क्या है, इस प्रकार आशंका करती हुई पूर्वानुभूत का स्मरण कर कहने लगीं "प्रत्यहं" इत्यादि पद से। यहाँ अहः शब्द दिवस वाची है। समस्त रात्रि रमण करने पर भी पुनः यदि श्रीकृष्ण प्रातःकाल आने की इच्छा करते हैं उस समय नवीन-उपस्थित में जिस प्रकार अभिलाषा रहती है उस से अधिक अभिलाषा होतीं है इस का स्मरण करके इस प्रकार कहने लगीं। यद्यपि श्रीकृष्ण में प्रतिक्षण नवनवायमान गुण है तो भी पूर्व-कथित समय के विरह में भीत होकर ऐसा कहने लगीं। सब से अतिशय, केवल अनुभव के द्वारा गम्य महान् भाव विशेष का प्रादुर्भाव होने के कारण इस प्रकार कहा गया है। इस से "प्रत्यहं नूतनतर" का तात्पर्य्य–भाव प्रतिक्षण में नवायमान है। अहः शब्द क्षण काल का उपलक्षक है ऐसा कोई कोई कहते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। मुख्यार्थ के उपस्थित रहने पर गौण प्रयोग अयुक्त होता है। अव्यय शब्द के प्रयोग से–श्रीकृष्ण सम्पूर्ण रात्रि में रमण करने पर भी उन में विरति-क्लमादि की व्यावृत्ति होती है! जहाँ संगम में भी इस प्रकार भाव है तब वहाँ विरह को बात दूर रही यह आशय है। इस के पश्चात् क्लमादि अभाव के कारण दिखलाती है कि "तरुणानन्दविग्रह" इस पद से। तरुण शब्द का अर्थ पूर्ण है। अतः गणितानन्द से एवं अक्षर ब्रह्म से भी व्यावृत्ति हो रही है। पूर्ण-विग्रह है जिन का यह तात्पर्य्यार्थ है। पूर्णत्व बोलने में जो तारुण्य का निरूपण किया गया है उस से भगवान् का हम में अनुराग तथा प्रकाश रूप में हम सब के उपयोग्य ऐसा भाव सूचित हो रहा है। भगवान् में नित्यकिशोरावस्था मौजूद रहने के कारण "तरुणि रमण विषय में सामर्थ्य का अभाव है" यह शङ्का निराकृत हो जाती है। अतः बाल्यकाल में भी गोपियों के साथ श्रीकृष्ण

का स्वच्छन्द विहार सूचित होता है। "यह्यंम्बुजाक्ष" इस श्लोक में "त्वयाभिरमिता" यह प्रयोग अन्य समक्ष अस्थिति के कारण रूप अपने विशेषण है किन्तु आधुनिक विषय में वह वहाँ कारण नहीं है। वहाँ चरण-स्पर्श तथा विहार के अवधित्व (चरमत्व) कारण है। यदि प्रथम दिवस संजात चरणस्पर्श समान कालीन रमण होता तो दोनों का अवधित्व हेतु होता।

उनके सम्बन्धी भी उसी प्रकार के हैं उसको कहती हैं "आनन्दैक-सुखस्वामी" इस पद से। आनन्द का स्वरूप अन्तःकरण-देहादिक सर्व व्यापक रूप है। यहाँ सुख की भी आवृत्ति है। अतः आनन्द रूप जो सुख है उसके स्वामी अर्थात् ईश्वर हैं, किम्बा उसके उपभोक्ता, अथवा उसके दाता यह अर्थ है। इस से भगवद् सम्बन्धी जो कुछ सुख है वह सर्वांशव्यापी है ऐसा कहा गया है। अतः भागवत में वेदस्तुति पर "आप के महिमामृत समुद्र के कण से" ... . ऐसा उक्त है। यहाँ स्वामित्व कृष्ण का ही है, अन्य का नहीं है। कृष्ण के स्पर्शमात्र से अपने निजसत्ता ज्ञान का अभाव के कारण एक पद का प्रयोग है। जैसा कि कहा गया है—"प्रिय के द्वारा हाथों से नीवी धारण कर जाने पर, हे सखियों, शपथ खा कर कह रही हूँ उस समय मैं ने कुछ नहीं स्मरण किया"। इस से अपने का उत्तमनायिकात्व सूचित हो रहा है। किम्बा यहाँ पृथक् दो नाम हैं। "उनके अधिक क्लेश है" इत्यादि वचनों से ब्रह्मानन्द में भी दुःख संसर्ग के देखे जाने के कारण उससे भी यह उत्कृष्ट है ऐसा एक पद से सूचित हो रहा है। वे स्वामी होने के कारण हम सबको ही इस प्रकार सुख प्रदान करते हैं अन्य के लिये नहीं है। यहाँ स्वामी इस नामान्तर से सुख दान के उत्तर काल का स्मरण करती हुई राधिका कहती हैं–"सन्तोषाक्षयकोशभूः" अर्थात् सन्तोष के जो अक्षय कोश समूह हैं उन की भूः अर्थात् उत्पत्ति स्थान है। "भू"

शब्द के निरूपण से श्रीकृष्ण के द्वारा ही सन्तोष है अन्य से नहीं ऐसा जाना जाता है। "कोश" शब्द प्रयोग से एक भी भगवत् सम्बन्धी जन के अनेक प्रकार सन्तोष उद्गम होता है ऐसा सूचित हो रहा है। "अक्षय" शब्द से उत्तरोत्तर सन्तोष उपस्थित होने पर पूर्व पूर्व सन्तोष की उन में अनुवृत्ति है ऐसा जानना चाहिये। इस से लीला नित्य है यह सूचित हो रहा है ॥३॥

इस प्रकार सन्तोष के स्मरण में पूर्व अनुभूत श्रीकृष्ण के जन्म समय के सन्तोष का स्मरण करती हुई राधिका कहने लगीं— "आभीराभिनवानन्द" इत्यादि पदों से। आभीरों के जो अभिनव अर्थात् पूर्व अननुभूत जातीय आनन्द स्वरूप हैं। परमानन्द का कन्दल अर्थात् परमानन्द के मूलकारण स्वरूप। इस का आशय-नन्दगृह में पुत्र हुआ इस प्रकार जब गोपों ने सुना है उस समय उनके उस प्रकार आनन्द उत्पन्न हुआ, जिस से प्रामाणिक बृद्ध जन भी महान् नृत्य करने लगे। पहले ऐसा आनन्द होगा कोई नहीं जानते थे। उस समय पुत्र जन्म रूप आनन्द का आकस्मिक होने के कारण वह आनन्द अभिनव रूप हो गया। तदनन्तर श्रीकृष्ण के बढ़ने पर इस प्रकार यह ब्रजराजनन्दन हमारे स्वामी हो रहा है अतः हमारे महान् भाग्य है। क्यों कि अतिशय परम आनन्द होता जा रहा है। किम्बा "आभीराभिनवानन्दः" तथा "परमानन्दकन्दलः" कर्मधारयसमास है। किम्बा दोनों पृथक् नाम के हैं। आभीरों का पूर्वोक्त आनन्द रूप ही है, गोपों के लिये ही श्रीकृष्ण का इस प्रकार आनन्द प्रकट हुआ है, गोपों की प्रतीक्षा से ही आनन्द ठहरा हुआ है। अतः प्रकट रूप में आनन्द का जन्म होने पर अपने को भी परमानन्द प्राप्त है, इसलिये वे गोपियों के भी परमानन्द कन्दल हैं। यहाँ जन्मकालीन आनन्द वाचक शब्द दोनों अर्थ में समान रूप है। स्वयं कन्दल रूप में निरूपण करने का

तात्पर्य्य-अन्यत्र जो पूर्वोक्त आनन्द प्रदान के लिये उन का प्रकट है—वह हम सबकी भाँति नहीं है, अर्थात् अन्यत्र जो आनन्द है वह साधारण रूप है, हम में तो वह आनन्द-दान सब से विलक्षण रूप है। अनन्तर बृहद्वन अर्थात् महावन से बृन्दावन आकर उन्होंने सुख प्रदान किया इस को क्रम से स्मरण करते हुए कहने लगीं—

"बृन्दावनकलानाथः" इत्यादि। बृन्दावन के कलानाथ अर्थात् चन्द्र हैं। जिस प्रकार आकाश के एक देश में रहने पर भी चन्द्रमा का समस्त प्रकाशनकार्य्य देखा जाता है ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी बृन्दावन में रह कर सर्वत्र प्रकाशमान् हैं। किम्बा श्रीकृष्ण के चित्त-रञ्जनार्थ जो कोकिलों के कूजन, मयूरादि के नृत्यादि कला-समूह हैं उन को श्रीकृष्ण राजा को भाँति देखते हैं, अतएव वे बृन्दावन में कलानाथ अर्थात् कोकिल-मयूरादि के गाननृत्यादि कला-समूह के दर्शक हैं। किम्बा बृन्दावन रूप जो कला उस के नाथ यह अर्थ है। तात्पर्य्य—चन्द्रमा सोलह कलाओं से युक्त है। बृन्दावन-चन्द्र का भी पहले श्याम रूप से निरूपण किया गया है। बृन्दावन का स्वरूप भी श्यामाकार है। अतः कलानाथत्व उचित हो रहा है। और भी षोडश नाम्नी ऐसा निरूपण से श्रीकृष्ण की भी सोलह कला अर्थात् धनिष्ठा पालिकादय सोलह शक्तियाँ मौजूद हैं। परन्तु जैसा कि पन्द्रह कला के रहने पर षोडशी-कला के अभाव से पूर्णरूप नहीं माना जाता है, उसके रहने पर संपूर्ण सोलह कला मानी जाती हैं, यहाँ भी इसी प्रकार है। इस प्रकार भाव गोपियों के हृदय में है, अन्यत्र नहीं है अतः श्रीराधिका कहती हैं "व्रजानङ्ग-नवाङ्कुर" इस प्रकार। व्रज-सम्बन्धी अनंग कल्पवृक्ष के नवीन अङ्कुर ऐसा अर्थ है। पहले काम अंग रहित था, श्रीकृष्ण के प्रकट होने पर वह शरीरधारी हो गया। अतः यहाँ कामकल्पवृक्ष के नवांकुर रूप कहा गया। इस से श्रीकृष्ण कामस्वरूप हैं ऐसा निश्चय है परन्तु

यह काम प्राकृत न हो कर दिव्यरूप है। इसी लिये यहाँ नव यह पद दिया गया है। नहीं तो अंकुर पद से ही वह अर्थ निकल सकता था। श्रीरामचन्द्र के द्वारा दिया हुआ वर इस का कारण है। अनंगरूप ही नवांकुर स्वरूप में हृदय में प्रकट हुआ है। वह प्रत्यह प्रेमरस से सिञ्चित हो कर हृदय-क्षेत्र में विस्तृत हो गया ऐसा हार्द है। यहाँ ब्रजपद से ब्रजस्थित गोपियाँ मानी गई हैं। बिना गोपी के किसी में इस प्रकार काम उत्पन्न नहीं हो सकता अतः श्रीकृष्ण स्वयं इस प्रकार काम-स्वरूप बन कर गोपियों के हृदय में प्रादुर्भूत होते हैं, उसी काम के द्वारा उन का श्रीकृष्ण से रमण होता है, परन्तु लौकिक काम से नहीं। और भी यह भाव अन्यत्र नहीं सम्भव होता है। बिना प्रभु की कृपा से इस भाव को कोई नहीं जानता ॥४॥

पहले अंकुर, पश्चात् पुष्प-फलादि है, अतः प्रथम अनंग रूप से ही अंकुरता ऐसा कह कर अब पुष्पत्व का वर्णन करती हैं— "नयनानन्दकुसुमः" इस पद से। नयनों का जो आनन्द वह ही कुसुम जिन का। इस से श्रीकृष्ण के बिना अन्य से नयनानन्द नहीं होता है। सन्ध्या समय जब श्रीकृष्ण आवेंगे उस समय का स्मरण करती हुई राधिका ने ऐसा कहा है यह जानना। अतः कुसुम रूपता कही गई है। आगे भविष्य में फलोदय होगा। इस के पश्चात् फलरूपता का वर्णन करती हैं—"ब्रजभाग्यफलोदयः" इस पद से। यहाँ पञ्चमी वहुव्रीहि समास उपादेय रूप नहीं है। बिना भाग्य से उस प्रकार फलोदय असम्भव है। परन्तु ब्रज-भाग्य रूप तथा फल रूप उदय जिन का यह कर्म्मधारय समास से सिद्ध है। दोनों पद से चन्द्रमा का लक्ष है। उससे दिवस में उत्पन्न विरहताप के नाशकत्व यह सूचित हो रहा है। फल तो मुख्य एवं तापनाशकत्व आनुषङ्गिक है इसको जताने के

लिये इस प्रकार निरूपण है । "यदुपतिर्द्विरदराजबिहार" इस श्लोक में ऐसा भाव कहा गया है । अथवा ब्रजपद से ब्रजस्थिता गोपियाँ कही गयी हैं । जिस समय रात्रि में संकेतस्थान पर श्रीकृष्ण को उपयोगी नाना वस्तुओं से संपन्न होकर प्रतीक्षा करती हुई गोपियाँ अपने अपने स्थान में ठहरतीं हैं उस समय श्रीकृष्ण वहाँ अकस्मात् प्रकट होते हैं, उस समय का स्मरण कर यह पद कहा गया है । इस लिये फल रूप का कथन है । सन्ध्याकाल में पुष्पत्व और रात्रि में फलरूपता यहाँ यथायुक्त है । यहाँ भी ऐसा अर्थ है । जिससे साधारण ब्रज के जो भाग्य है उस का फल रूप उदय जिनका है । उस समय उन का उदय असाधारण रूप है । ब्रज के भाग्य रूप में श्रीकृष्ण के प्रगट होने पर भी जो इस रस में अनभिज्ञ हैं वे इस भाव को नहीं जानते हैं । तो भी प्रार्थना करना उचित है, यह भाव सबसे ऊपर है ऐसा हार्द जानना । आगमन क उत्तर समय का स्मरण कर कहती हैं "प्रतिक्षणातिसुखदो" । प्रतिक्षण केवल संगम सुख से भी अतिशय सुख के दाता यह अर्थ है । अतिशय सुख का उत्पन्न परिरम्भण, आलिङ्गनादि से है । पूर्व पूर्व क्षण से उत्तरोत्तर क्षण में एक मात्र आलिङ्गनादि से अतिशय सुख के देने वाले ऐसा तात्पर्य है । किम्बा यहाँ प्रतिक्षण पद से संगमादि के द्वारा प्रतिक्षण संजात सुख का लक्ष है । पहली अवस्था में उत्कण्ठना उस के अनन्तर श्रीकृष्ण के उपस्थित होने पर उन का दर्शन से जो सुख है वह केवल अनुभव वेद्य मात्र है, वह सुखानुभव सर्बातिशायी है, अतः अति सुखद ऐसा कहा गया है । दोनों समय में यह नाम का निर्देश होता है । अब उस के उत्तर समय का स्मरण कर कहती हैं—"मोहन" इस पद से । विचित्र बन्धादि से मोहन ऐसा अर्थ है । वह सर्वत्र सर्वांश में ऐसा विशेष निर्देश नहीं है । अर्थात् जिस प्रकार गोपियों को

मोहन हों उस प्रकार वे करते हैं यह भावार्थ है। अब मोहन शब्द के बोलने पर राधा का मर्म स्पर्श हुआ, उस से मूर्च्छा आ गई, फिर किसी प्रकार प्रबोधित हो कर अत्यन्त आर्त्ति के साथ श्रीकृष्ण का आगमन हुआ हृदय में ऐसा स्मरण करती हुई कहने लगीं "मधुर" इस पद से। शृङ्गार करते हुए आगमन के कारण श्रीकृष्ण की सहज में ही इस प्रकार कान्ति है। आगमन से पहले कान्ति प्रकट से ही आगमन का लक्ष होता है। अतः यहाँ कान्ति का निरूपण किया गया है। किम्बा वे सर्वशक्ति पूर्ण हैं, उन की रमण की इच्छा हुई, परन्तु उन की तेज को कोई सहन नहीं कर सकता है, उन के समान कोई नहीं हैं अत एव रमण में किस प्रकार रसोत्पत्ति हो सकती है इस लिये आप कहने लगीं "मधुर" इस पद से। तात्पर्य्य-वे कोटि सूर्य्य से अधिक तेजोवान् होने पर भी सूर्य्य की भाँति कठिन नहीं हैं परन्तु सर्वदा मधुर स्वरूप हैं। अथवा जिस समय श्रीकृष्ण का आगमन है उसे कह कर, अन्यत्र रात्रि बिताकर प्रातः यहाँ आवेंगे, उस समय मानिनी मुग्ध राधिका में इस प्रकार मोहन डालेंगे जिस से शीघ्र ही वश में आ जाऊँगी इस प्रकार स्मरण कर मोहन पद का प्रयोग किया गया है। उस समय सुरत-चिन्हों से अङ्कित, विपरीतरूप से वस्त्रादि धारण करने वाले, मदालस, कामयुद्ध से उत्पन्न स्मय अर्थात् घूर्णायमान, रात्रि जागरण से कुछ रक्तिम नयन वाले, मन्दहास्य पूर्ण मुख-कमल वाले श्रीकृष्ण की द्युति अत्यन्त मधुर होती है इस लिये यहाँ मधुरद्युति शब्द कहा गया है। अथवा रतिसमय में ही जघनादि गति से चञ्चल शरीर श्रीकृष्ण की द्युति मधुर अर्थात् मनोहर होती है ॥५॥

इस के पश्चात् क्रम से अधरसुधा पान का स्मरण करती कहने लगीं— "सुधानिर्यासनिचय" इत्यादि पद से। अर्थात्—

पूर्वोक्त अनंग कल्पतरु के सुधारूप जो निर्य्यास उस के निचय

स्वरूप। किम्बा सुधा का ही निर्यास अर्थात् सार उसके निचय रूप ऐसा अर्थ है। जिस प्रकार कि—रसद्रव्य दुग्धादि के मंथन से उस का सारभूत मक्खनादि निकलता है ठीक उसी प्रकार ऐसा हार्द है। अधरामृत में उससे अधिक स्वाद विद्यमान है। इसी लिये ही मुरली का वेणु ऐसा नाम है। "वश्च इश्च वयौतावणू यस्मात्"। अर्थात् वे दोनों अणु हैं जिस से ऐसा वेणु पदार्थ है। इस का यह तत्व है—वेणु का अधर सम्बन्ध के कारण उसमें जो अमृत-कामरस को अणु करने का सामर्थ्य है वह अधर से ही प्राप्त है। यह "वर्हापीड नटवरवपुः" भागवत के इस श्लोक में निरूपित् किया गया है। निर्यासत्व निरूपण के द्वारा यह सूचित होता है कि यहाँ का सम्बन्ध यहाँ ही लगा हुआ है अन्यत्र नहीं। जैसा कि कहा है—मनुष्यों के इतर विषय में जो राग उस का विस्मरण कर देने वाला उन का अधरामृत है। इस प्रकार मुख्य विषय कह कर सामान्य रूप में अनुभावकत्व को कहती हैं— 'सुन्दर" इस पद से। वह सुन्दरता सर्वांश में है कोई विशेष का निर्देश नहीं है। अतः सर्वांग में उन सबके द्वारा शास्त्रोक्तचेष्टा की जाती है। इस लिये श्रीकृष्ण में समस्त आसक्ति का विषयत्व मौजूद है। तो भी पुरुष-सौन्दर्य्य स्त्रियों का उपयोगी है इसलिये विशेष करके स्त्रियों का ही आसक्ति विषयत्व उन में मौजूद है यह तात्पर्य्य है। इस प्रकार सौन्दर्य्य कीर्त्तन से श्रीकृष्ण प्रथम आसक्ति के विषय हैं अतः उन की स्मृति हुई। पहले सुन्दरता के कारण आसक्ति उत्पन्न होने लगी, थीं, पश्चात् विरह से अत्यन्त आतुरता आ गयी, साक्षात् रूप से उन का दर्शन नहीं हुआ, चित्रपट में उन की आकृति का दर्शन करने पर वह बाधक ताप चला जावेगा इस प्रकार भावना करती हुई राधिका कहती हैं—"शीतलाकृतिः" इस पद से। किम्बा अत्यन्त दुःख से कुछ क्रुद्धा हो कर ऐसा पद कहने लगीं—

उन की आकृति ही शीतल है परन्तु स्वयं नहीं हैं । पहिले तो शीतल आकार देख कर भीतर भी ऐसा शीतल होगा ऐसा जान कर स्त्रियाँ उन में प्रवृत्त हुई, परन्तु पश्चात् वह मारण रूप बन जाते हैं यह सब बात पूतनादि स्त्रियों में बीती है । इस लिये "आप केवल अबलाओं को ग्रसित करने के लिये वन वन में भ्रमण करते हैं" ऐसा गोपियों ने गान में कहा है । किम्बा "शीतलाकृति" का अर्थ-साधारण लोकप्रतीति से वे कामादि रस के अनभिज्ञ ऐसे जाने जाते हैं परन्तु एकान्त में आकर परम चतुर बन जाते हैं । इस में श्रीकृष्ण की प्रवृत्ति निःशंक है ऐसा दिखलाया गया है । अब आकृति के इष्ट – दातृत्व निरूपण करके वयस भी इष्ट प्रदायक है उसे कहती हैं—

"नव–यौवन–सम्भिन्न–श्यामामृतरसार्णवः" इस पद से । नवीन यौवन से संभिन्न अर्थात् संवलित ऐसा अर्थ है । इससे वयःसन्धि कही गई है । नवीन यौवनता के कारण कूर्चादि अङ्कुरित नहीं है अर्थात् रेख नहीं आया है, अत एव रति समय अतिशय सुखानुभव भाव को उत्पन्न करने वाले हैं । जैसा कि कहा गया है— वे अनङ्कुरित कूर्च वाले हैं..

उस से संवलित भावादिकों से भी अतिमोहन ऐसा भाव है । वर्त्तमान में श्रीकृष्ण के केवल समुदित स्वरूप मात्र में श्रीराधा निविष्टचित्ता है, तो भी श्रीकृष्ण के वर्णन मात्र का भी रस रूपत्व है अतः वह कहती हैं—"श्यामामृतरसार्णवः" इस पद से—

जिस प्रकार दुग्धादि के धवलत्व है उस प्रकार श्याम रूप जो अमृत का रस अर्थात् मन्थन के द्वारा निर्गत, उस के सार रूप एसा अर्थ है । उस श्यामामृत रस के सागर यह भावार्थ । श्यामरूप इस वचन से प्रसिद्ध दुग्ध सुधा–रस से अलौकिकत्व सूचित होता है । उस से उस श्याम–रूप अमृत–रसार्णव में स्थित नयन–कुण्डल-

वदन-दन्त-कर-चरणादिक अलौकिक मान-मकर-मणि-कमलादि रूप हैं। उस रस की सीमा नहीं है। इस रस में मग्न व्यक्ति का पुनरुत्थान नहीं ऐसा ध्वनित हो रहा है। किम्बा "श्यामाः" अर्थात् षोडश वर्षीय गोपियाँ उन के सम्बन्धी अमृतरस अर्थात् अधरामृत रस वह सागर रूप जिस में ऐसा अर्थ है। इस से अतिसरस असंख्य गोपियों के भोक्ता यह कहा गया है॥६॥

इस प्रकार वर्ण का निरूपण करके श्रीकृष्ण में निज प्रतिविम्ब पड़ने के कारण उससे जो चाकचक्य उठा है उसका स्मरण कर कहने लगीं—"इन्द्रनीलमणिस्वच्छो" इस पद से। इन्द्रनीलमणि की भाँति निर्मल ऐसा अर्थ है। इससे जिस प्रकार मणि बाहिर-भीतर एकरूप उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी एक रस यह सूचित होता है। गोपीजन से वेष्टित श्रीकृष्ण सुवर्ण से जड़ित महामणि शोभा को धारण करते हैं। मणि जिस प्रकार निकट-स्थित वस्तु से प्रतिविम्बित प्राप्त होकर सादृश्यत्व को धारण करता है ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण गोपियों से वेष्टित हो कर अन्तर में गोपी-स्वरूपात्म को धारण कर लेते हैं। श्रीकृष्ण ने कहा है—जो मेरे लिये लोक-धर्म्मों का त्याग करते हैं मैं उन को हृदय में धारण कर लेता हूँ" "मुझ में वे उन में मैं" इत्यादि। यहाँ मणि-दृष्टान्त से यह सूचित होता है कि—जिस प्रकार मणि श्यामत्व तथा सुन्दरता के कारण अन्यलोगों की प्रीति के विषय नहीं है केवल उस के गुणों को जानने वाले परीक्षक जन के लिये है ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी सुन्दरतादि के कारण सर्व लोगों के प्रीति विषय नहीं होते हैं परन्तु उनमें स्थित रसिकशिरोमणित्वादि गुणों को जानने वाली गोपियों के प्रीतिविषय होते हैं। इस प्रकार रूप-निर्मलता का निरूपण करके क्रम से चिक्कणता को कहती हैं—"दलिताञ्जनचिक्कणः" इस पद से। यहाँ दलित

का अर्थ घर्षित है। स्नेह-द्रव्य में घर्षित हो कर कज्जल की उत्पत्ति होती है ठीक उसी प्रकार हम सब के स्नेह से श्रीकृष्ण का प्राकट्य है। यद्यपि पुनः पुनः स्नेहादि द्रव्यों से घर्षित कज्जल ही अञ्जन बन जाता है किन्तु पूर्व पद की अपेक्षा नहीं है तौ भी उस से अतिचिक्कण ऐसा जताने के लिये दलित शब्द का प्रयोग किया गया है। किम्बा केवल कज्जलवाचक यहाँ अञ्जन पद है। अञ्जन दृष्टान्त से जैसा कि स्त्रियों के नयन-भूषण के लिये उस का जन्म है उसी प्रकार गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण का प्राकट्य यहाँ गोपियों के लिये है। यह नयनों में ही ठहरा हुआ है। उससे रहित गोपी दुर्भागा है ऐसा सूचित हो रहा है। किम्बा अञ्जन पद गोपियों के नयन स्थित अञ्जन वाचक है। वहाँ यह अर्थ है—दलित अर्थात् नयन की उपरितन तथा अधस्तन रेखा से द्विधा-कृत अर्थात् दो रूप धारण करने वाला और चिक्कणता जिस का ऐसा अञ्जन है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के मिलन से होता है। नहीं तो विरह ताप से सहज चिक्कण होने पर भी शुष्क हो जाता है। यहाँ समान अर्थ जानना। जिस प्रकार सहज चिक्कण होने पर भी श्री-कृष्ण के द्वारा इस प्रकार होता है ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी उस स्निग्धता-गुण में स्थित है, उस से रहित नहीं है। किम्बा नयनस्थ होने पर भी श्रीकृष्ण के अधर के द्वारा दलित है अर्थात् दो प्रकार बन गया है। तात्पर्य्य—श्रीकृष्ण के अधर-स्पर्श से नेत्र अन्य प्रकार धारण कर लिया है। उससे वह चिक्कण हो गया है ऐसा अर्थ है। गोपियों के नेत्रस्थ कज्जल ने श्रीकृष्ण के अधर में भी लग-कर अधर को स्नेहमय बना लिया। अतः प्रातः दूसरी रमणी के घर पर से आने पर भी श्रीकृष्ण के अधर में स्नेहभाव नहीं है किन्तु स्निग्धत्व ऐसा ध्वनित हो रहा है। किम्बा कभी प्रिय को स्नान कराती हुई उनके अंग में स्निग्धता के कारण जलबिन्दु नहीं

ठहरता है ऐसा देखा करती थी, अब उस का स्मरण आने पर इस प्रकार कहने लगीं। अत: आगे सर्वांग पोंछने के समय सर्वांग को स्पर्श सुख मिला उस का स्मरण कर कहने लगीं–"इन्दीवरसुख-स्पर्श:" इस पद से। इन्दीवर से भी सुख रूप स्पर्श है जिन का ऐसा अर्थ। उस से परम सौगन्ध्य, रात्रि में सुखद, एवं अलौकिकत्व का ध्वनित हो रहा है।

किम्बा जिन से इन्दीवर का ही सुख स्पर्श है। अर्थात् विरह में गोपियों के लिये नीलकमल कठोर एवं उष्णत्व रूप धारण कर लेता है। श्रीकृष्ण के मिलने पर वह परम सुकुमार तथा शीतलत्व रूप से भान (प्रतीत) होने लगता है। अथवा इन्दीवर पद से गोपियों के नयन लक्षित होते हैं। वहाँ ऐसा अर्थ हो सकता है कि— उनके अर्थात् नयन रूप नीलकमलों के सुख रूप स्पर्श सम्बन्ध जिन का ऐसे वे श्रीकृष्ण हैं। यह उस समय अङ्ग प्रोंछन के अनन्तर पब के सर्वांग दर्शन से सुखातिशय होता है इस का स्मरण कर कहा गया है। तदनन्तर श्रीकृष्ण के कटिप्रदेश में पीताम्बर पहराय कर केशसंस्कार का स्मरण करती हुई कहने लगीं–"नीरदस्निग्धसुन्दर:" इस पद से—

नीरद पद से यहाँ वर्षणकारी मेघ कहा गया है। जिस प्रकार वह भीतर में स्नेहयुक्त तथा तप्तजनों को नीर प्रदान करता है ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी विरहतापितों के लिये जीवन रूप अमृत-दृष्टि का वर्षण करते हैं। अत: मेघ की भाँति अतिशय स्निग्ध एवं सुन्दर और बाहर विद्युत् की भाँति पीताम्बर से शोभित हैं। इस से जिस प्रकार बृष्टि के पहले मेघदर्शन से ही तापनिवृत्ति होती है ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण की कृपादृष्टि के पहले से ही तापनिवृति है। उन के आगमन से समस्त तापों की निवृत्ति होती है यह सूचित हो रहा है। किम्बा–नीरद में स्निग्ध अर्थात् मेघ में स्नेहवन्त जो मयूरादिक हैं उन

के द्वारा सुन्दर अर्थात् उनके पिञ्छधारण, नृत्य-कूजनादि के अनु-करण से जब भगवान् उपस्थित होते हैं तो उस समय मयूरगण मेघबुद्धि से नृत्य एवं कूजन करते हुए उन्हें घेर कर ठहरते हैं उससे वे (श्रीकृष्ण) परमशोभा को धारण करते हैं । किम्बा-नीरद की भाँति स्निग्ध बोलने वाले, उस की भाँति सुन्दर शरीर वाले ऐसा अभिप्राय है ॥७॥

अनन्तर सब ने तिलक बना कर चिबुक से लेकर चरणतल पर्य्यन्त कर्पूर-अगरु-कस्तूरी-कुंकुम से लेपन किया, उस का स्मरण कर कहती हैं—

"कर्पूरागरुकस्तूरीकुंकुमाक्ताङ्गधूसरः" इस पद से—इन द्रव्यों से लिप्त हो कर श्रीअग धूसर वर्ण प्रतीत होने लगता है । पीले अंग-राग की कान्ति तथा इन्द्रनीलमणि शरीर की कान्तियाँ जिस समय मिलित होती हैं उस समय एक का ही रूप पृथक् रूप में आविर्भाव होता है किन्तु स्वय इस प्रकार प्रतोत नहीं होते हैं ।

यहाँ "अक्त" पद से अंगराग का स्निग्धत्व सूचित होता है । वे अति सुन्दर इस को जनाने के लिये ऐसा निरूपण किया गया है । किम्बा चतुःसमके द्वारा लिप्त जो एक भी अंग है वह पूर्वोक्त रीति से धूसर वर्ण धारण कर सर्वांग में प्रतिबिम्बित हो कर सर्वांश में प्रतोति विषय हो रहा है । इस लिये यहाँ अंग शब्द का प्रयोग है । वास्तविक चतुःसम के कहे जाने पर पृथक् पृथक् निरूपित है । किसी से कर्पूर, किसी से अगरु घर्षण, किसी से कस्तूरिका, किसी से कुंकुम लिये गये हैं । अतः जो आती है वह अपनी वस्तु को सर्वांग में, कोई कोई वा एक ही अंग में समर्पण करती हैं । इस लिये एक रूप नहीं है । इन्द्रनोलमणि इत्यादि करके पंच नाम ग्रहण के द्वारा क्रम से अर्थ-काम-मोक्ष-धर्म-भक्ति रूप पंच पुरुषार्थत्व श्रीकृष्ण के हैं यह कहा गया है । इस का ही इसमें मुख्यत्व अन्यों का नहीं

इस को जताने के लिये व्युत्क्रम से उनका निरूपण किया गया है। अनन्तर नख से ले कर मस्तक पर्य्यन्त शृङ्गार किये गये ऐसा स्मरण कर उस का निरूपण करती हैं—"सुकुञ्चितकचग्रस्तोल्लसच्चारुशिखण्डकः" इस पद से—

किम्बा पूर्व कथित स्वरूप के निरूपित होने पर-अत्यन्त प्रचुर ताप है उस का अपगम नहीं होने पाता है, अतः प्रत्यंग वर्णन करती है। यद्यपि पुरुष होने के कारण चरण से ले कर वर्णन करना उचित है तो भी तापहरणार्थ ही ऐसा निरूपण हो रहा है। पहले दिवस के विरहताप दूरीकरण के लिये सन्ध्या के समय जब श्रीकृष्ण आ रहे हैं तब दूर से पहले अत्युच्च मुकुट का दर्शन होता है पश्चात् मुखारविन्दादि का दर्शन है, वर्त्तमान भी उसी प्रकार से आकर ताप हरण करें इस अभिप्राय से मुकुट से आरम्भ कर तापहारक स्वरूप का वर्णन करती हैं—"सुकुञ्चित" इस पद से। सुष्ठु कुञ्चित जो केश उन से ग्रसित अर्थात् अत्यधिक शोभित मनोहर शिखण्ड अर्थात् मयूरपिछ जिन के वह ऐसा अर्थ है। केशों के कुञ्चित रूप होने पर भी जिस केश के जहाँ रहने पर सुन्दरता है वहाँ ही उस की स्थिति है ऐसा "सु" इस उपसर्ग से सूचित होता है। यहाँ शिखण्ड के ग्रस्तत्व का तात्पर्य्य—केशों से वलित होकर मध्य में पिछ का मूल देश छिप गया है, उसने शोचा कि केशों ने तो मूल प्रदेश ग्रास कर लिया, कहीं अग्रभाग को ग्रास नहीं कर लेवें इस भय से अग्रभाग ऊपर को उठने लगा। अर्थात् अत्यन्त शोभायमान होने लगा। शोभितत्व इस वचन से शोभा के साधन वन्यपुष्प-गुञ्जा-मणि-पल्लवादि सूचित होते हैं। अतएव चारु अर्थात् सबके मनोहर इस प्रकार शिखण्डक अर्थात् मयूरपुच्छ से बना हुआ मुकुट जिनका, इससे श्रेष्ठांग का वर्णन हैं। रूप प्रधानमय मयूरपुच्छ का सबसे ऊपर धारण करने का तात्पर्य्य—श्रीकृष्ण

में रूप की ही प्रधानता है। जिस से पुरुषार्थ प्राप्त होता है। अर्थात् पुरुषार्थ प्रदान में श्रीकृष्ण की रूप ही सर्वोपरि है परन्तु माहात्म्यज्ञानादि नहीं है। अतः रूप ग्राही नेत्रधारियों का यह ही परम फल है यह "अक्षण्वतां फलमिदं" इस भागवत के श्लोक में गोपियों ने कहा है। किम्बा सुकुञ्चित पद से केश का वर्णन है। कचग्रस्त पद से पुष्पों का, उल्लसित पद से चाकचक्य गुञ्जा-मणियों का वर्णन है। इन के द्वारा चारु अर्थात् मनोहर शिखण्ड जिन का ऐसा अर्थ है। उन द्रव्यों का मुकुट के अवयव के कारण शोभा उत्पन्न करना ही मुख्य है परन्तु स्वातन्त्र्य से मुख्यता नहीं है इस लिये पृथक् नाम निर्देश नहीं है। कुञ्चितादि धर्मों से ही उनका शोभाजनकत्व है। इनका यह क्रम है—पहले केश, उस के ऊपर उस प्रकार के पुष्पसमूह, उस के ऊपर गुञ्जा, गुञ्जा के ऊपर मुकुट की वह चन्द्रिका इस प्रकार से स्थिति जानना ॥८॥

इस प्रकार मुकुट का निरूपण करके अलकावली के किनारे में स्थित कर्णों के उपरिभाग भूषण का वर्णन करती हैं "मत्तालि-विभ्रमत्पारिजातपुष्पावतंसकः" इस पद से—मत्त भ्रमरों से परि-वेष्टित अर्थात् उनसे विलास प्राप्त जो पारिजात पुष्प वह कर्णा-भरण हैं जिनके वह। पारिजात पुष्प के रस से भ्रमर गण मत्त हो कर तथा उसे परित्याग करने में असमर्थ हो रहे हैं। वे सब उस के आमोद से उन्मत्त हो कर पतों में यत्र तत्र लिपट रहे हैं। पुष्प के आधार अवतंस भी तद् वत महान् शोभायमान हो रहा है इस लिये "विभ्रमत्" शब्द का प्रयोग है। विलास करने पर भी अशोभित नहीं है ऐसा तात्पर्य्य है। किम्बा मत्त भ्रमर भ्रमण (घूम) कर रहें जिसमें ऐसा अर्थ है। मत्तता के कारण वे सब शब्द कर रहे हैं तथा अपने को भूल भी रहे हैं। इस से यह ध्वनित हो रहा कि–'हे कृष्ण ! आप केवल देवताओं के भोग्य, आप के कर्ण-

भूषण रूप, सर्वोत्कृष्ट पारिजात पुष्प के रस अपकृष्ट खग अर्थात् नीच भ्रमरों को पिला रहे हो, मत्त उनका निवारण नहीं कर रहे हो, उन के दोष भी नहीं लेते हो परन्तु उनसे शोभा को धारण कर रहे हो। जब तुम ऐसे हो तो आप के रसास्वादन में उन्मत्त, वर्त्तमान में उस के अभाव से व्याकुल, आप के एक मात्र आश्रित हम सब को क्यों रसपान नहीं कराते हो"।

श्रीकृष्ण के आगमन के समय पहले उदय प्राप्त आनन की शोभा नेत्रगोचर होती है अतः उसका वर्णन करती हैं "आननेन्दुजितानन्तपूर्णशारदचन्द्रमाः" इस पद से। आनन ही चन्द्रमा उस से तिरस्कृत हो रहे अनन्त, पूर्ण, शरत्‌चन्द्रमा जिस से यह योजना है। इस का अर्थ—यदि असंख्य परिपूर्ण शरच्चन्द्रमा के सौन्दर्य्य एक एक ले कर, मिला कर, एक ही चन्द्रमा में रख दिया जावे, तब वह चन्द्र भी श्रीकृष्ण के मुख-सौन्दर्य्य की समान-कक्षा नहीं प्राप्त होता है। शरत् काल में गगन निर्मल हो जाता है उस में नक्षत्र समूह स्पष्ट दिखने लगते हैं उस से अधिक शोभा होती है अतएव "शरत्" शब्द का कथन है। इन्दु शब्द से तापहारी, कुमुदविकाशनकारी, रात्रिसुखकारी, मार्गप्रकाशक, रसोद्दीपन-कारक इत्यादि सूचित हो रहा है। दिवस में विरह ताप से उत्तप्त होने के कारण तथा नयनों का कुमुद रूप से कहे जाने के कारण, अंधकार रात्रि में रमणार्थ गमन करने वाली हमारे लिये यह चन्द्र हितकारी है। इस से चारों ओर में स्थित केश कलाप में गुंथे हुए पुष्पें अनन्त नक्षत्र रूप हैं, ऐसा जानना। और भी पहले श्यामामृत रसार्णव रूप में विग्रह का निरूपण किया गया है, अब विग्रह के ऊपरभाग में स्थित वदन को चन्द्रमा रूप से कहा गया, इस से उदयशील चन्द्रमा का अत्याधिक शोभा है ऐसा सूचित हो रहा है। अतः गोपियों के कुंकुमादियों से व कुण्डल स्थित मणि-आदियों

को प्रभा से सर्वदा आनन रागमय हो रहा है। "श्यामासम्बन्धी" इस प्रकार व्याख्या से—गोपीजन के अमृतरस का सागर रूप कहे जाने क कारण श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र दर्शन से ही उस की बृद्धि होती है ऐसा सूचित होता है। अतः विभावक एवं ईषत् पाण्डु-वर्णत्व का सूचित है। जैसा कि कहा है—"वदरपाण्डुवदन" अर्थात् वेर की भाँति पीला वदन वाले"। जिस समय गोपियाँ श्रीकृष्ण के समक्ष बैठ कर उन के मस्तक किम्बा ललाटादि में मुकुटधारण, श्रमजल मार्जनादि दोनों हाथ से कराती हैं, बाँधने के समय मुख के चारो ओर दोनों हाथ एक हो जाता है अर्थात् मुख से हाथ मिल जाता है उस समय अत्यन्त परिवेष शोभा सूचित होती है। एवं स्थल-विशेष चुम्बन से कोक रूप दोनों स्तन का वियोजकत्व होता है ऐसा भी जानना। "जितत्व" ऐसे निरूपण से जिस प्रकार पराजित जन को सर्वस्व ग्रहण में अत्यन्त तुच्छत्व माना जाता है ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण के आनन के आगे इस चन्द्र का तुच्छ रूप हो आता है, जानना। सूर्य्य के आगे जिस प्रकार प्रदीप तुच्छ रूप है। श्रीकृष्ण के मुख के अवलोकन के विना विरह ताप से अत्यन्त शुष्कता के कारण परस्पर वियोग प्राप्त कोक रूप कुच दोनों के उस प्रकार आनन-हृदय कमल दोनों का दर्शन मात्र से अत्यधिक प्रमोद के साथ विकाश एवं अभिसार में अनुकूलत्व ये सब ध्वनित हो रहे हैं। अतः "जित्वा" अर्थात् लाञ्छित करके "व्यसृजत्" छोड़ देता है यह ध्वनित होता है। अथवा आनन्द चन्द्रमा से जिता अर्थात् वशीकृता जो गोपियाँ हैं उन में विरहताप निराकरण के द्वारा अनन्त पूर्ण शारद चन्द्रमा स्वरूप हैं। जैसा कि सूर्य्य से उत्पन्न ताप को एक ही चन्द्रमा दूर करता है ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण अपने विरह से उत्तप्त जनों के ताप दूर करने के लिये दर्शन-आश्लेषादि के द्वारा असंख्य चन्द्र की

भाँति शीतल हैं ऐसा भाव है ॥६॥

इस प्रकार उदय प्राप्त मुख का वर्णन कर साढे पांच श्लोक से प्रत्येक अवयव का वर्णन करती हैं-"श्रीमत् ललाट" इत्यादि पदों से। शोभावान ललाट में पाटीर अर्थात् हरिचन्दन का जो तिलक उस से एवं अलकावली से रञ्जित ऐसा अर्थ है। ललाट की शोभा तिलकादि के द्वारा नहीं है परन्तु वह ही अतिसुन्दर ऐसा जताने के लिये "श्रीमत्" पद दिया गया है। भ्रू मध्य से लेकर केश पर्य्यन्त तिलक होता है। वह केवल पाटीर शब्द प्रयोग से श्वेतवर्ण किम्बा पीतवर्ण है। प्राधान्यता के कारण केवल शब्द का प्रयोग है। समानाधिकरण के द्वारा अलक-तिलक का निरूपण से-जिस प्रकार अलक कर्ण पर्य्यन्त स्थित है ठीक उसी प्रकार भ्रू के मध्य केश पर्य्यन्त समान रेखा रूप से तिलक बना कर फिर तिरछा विचित्र रेखाओं से कर्ण पर्य्यन्त चित्रित किया गया है। मुखकमल के चारों ओर पंक्ति आकार में स्थित कुञ्चित केश अलका है। इन दोनों से रञ्जित, जिस प्रकार कि मञ्जिष्ठा से वस्त्र रञ्जित होता है ठीक उसी प्रकार तिलक-अलकों से मुख कमल रञ्जित है। प्रोंच्छन-मार्जनादि से भी दोनों का अन्य प्रकार नहीं है ऐसा भाव है।

अथवा-उस प्रकार के दोनों से रञ्जित अर्थात् सबके रागविषयीभूत यह भाव है। किम्बा-उस प्रकार के तिलक से संयुक्त एवं वह अलका से रञ्जित ऐसा कर्मधारय समास है। यहाँ राग विषयी-भूत यह अर्थ है। राग का जीव-धर्मत्व के कारण उस की भाँति अलकों का मधुपत्व ध्वनित होता है। इस से श्रीकृष्ण के मुख कमल रूप है ऐसा अर्थ प्रकट होता है, तिलक तथा रेखाओं के पीतत्व के कारण केशर-पराग है। राग-विषयत्व निरूपण से सरस ध्वनित होता है, सरस वस्तु में ही आसक्ति होती है, असरस में नहीं। निरन्तर स्थिर रूप में रहने के कारण उनके सर्वदा सरसत्व ज्ञात होता है।

अतः प्रसिद्ध कमल से विलक्षणता है। जिस प्रकार सरसि के एक भाग में अर्थात् सरोवर के किस एक भाग में कमल ठहरता है एवं सर्वदा प्रादुर्भाव रहता है ठीक उसी प्रकार प्रीति-रस से सरस हृदय में ही इन का प्राकट्य तथा स्थिति है, अन्यत्र नहीं है। निरन्तर कोकरूप गोपियों के कुच के साथी, सुगन्धमय और कोमलता रूप सूचित होता है।

अब क्रम प्राप्त भ्रू का वर्णन करती हैं—"लीलोन्नतभ्रूविलासः" इस पद से। लीला में अर्थात वेणुवादन लीला से उन्नत जो भ्रू उस में मन्द्र-मध्य-तार स्वरों का अनुकरण रूप विलास है जिन का वह। अथवा उस समय सकेत स्थानादि को सूचित करने वाला विलास है जिनका वह। किम्बा मिथ्या कोप ही लीला है, उस से उन्नत जो भ्रू उस में विलास है जिनका वह। यहाँ अन्तःकोप का अभाव के कारण किञ्चित् हास्यमय तथा बाहर कोप का अभिनय से किञ्चित् वक्र रूप भ्रू है। केवल कोप से वह वक्रता को धारण नहीं करती है ऐसा भाव है। किम्बा लीला में अर्थात् क्रीडा में अतिशय मदनमद से उन्नत जो भ्रू उस में बन्धादि सूचन रूप विलास है जिन का वह। किम्बा "लीलासु" गोपों के साथ कियमाण क्रीडाओं के मध्य उन्नत अर्थात् उत्कृष्ट भ्रूविलास अर्थात् संकेतस्थलादि सूचन जिनका वह। तात्पर्य्य-अत्यन्त आर्त्ति के कारण जो रह नहीं सकी तथा गोपों से वेष्टित प्राणवल्लभ को देखने के लिये समीप में आई हुई राधिका में भ्रू के द्वारा ही संकेतस्थान की सूचना दे कर समस्त समाधान करने वाले जो श्रीकृष्ण वह। उसका स्मरण कर ऐसा कहा गया है। "अभी वे ऐसा करें, अपने हृदय में यह ही कल्याण है" अतः सबसे उत्कृष्टत्व निरूपण किया गया है।

अब क्रम प्राप्त नेत्रों का वर्णन करती हैं—"मदालसविलोचनः"

इस पद से। असंख्य गोपी-मुखकमलमधुपान से जात जो मद उस से युक्त किम्बा मद से अलस प्राप्त दोनों नेत्र जिन के वह । यहाँ अलस पद से यह ज्ञान हो रहा है कि नेत्र-द्वय निरन्तर गोपिमुख-कमल मधुपान काय में रत हैं, उससे अन्य कार्य्य करने में असमर्थ हैं। इस से श्रीकृष्ण के नयनों का गोपीपरक तथा गोपियों का अति सरस रूप सूचित होता है । जब दूर में रह कर पान करने के कारण दोनों नेत्र में मद उत्पन्न हो रहा है तब साक्षात् में आकर अधरादि की सुधापान में मत्तता होती है, इसे हम कहाँ तक कह सकती हैं यह निगूढ़ आशय है। अत: श्रीजयदेवजी के गीतगोविन्द में "तुम्हारे अंग संग प्राप्त पवन के द्वारा चलायमान रेणु को भी बड़ा आदर करते हैं"। "आप ही हमारे जीवन हैं" इस प्रकार के नाना वचन मौजूद हैं। वास्तविक "यह कवि की चतुराई है" ऐसा नहीं है। उस बस्तु की ऐसी ही महिमा है । और भी देखिये-कृत-पुण्य वाले श्रीकृष्ण से अनुग्रहीत महान् सज्जनों का इस विषय में विश्वास है! वहिर्मुखजन इसमें अविश्वास करें इसमें हमारी कोई हानि नहीं है। यह केवल खेद ही जानना। अथवा-मद अर्थात् गोपियों का मान, उस में अलस विलोचन जिन के वह। यहाँ पूर्व की भाँति मान पर वस्तु हैं। श्रीकृष्ण की दृष्टि-पात मात्र से सब विगतमाना हो जाती है, अर्थात् उन के कटाक्ष-पात से मान चला जाता है । किम्बा मद शब्द का अर्थ गर्व है, उस से अलस दोनों नेत्र जिन के वह। यहाँ मध्यपद लोपी समास है। यहाँ गर्व लोचन निष्ठ है। वह कमल-खञ्जन-मदन जय से सिद्ध है। किम्बा मदालसा जो गोपियाँ हैं वे नेत्रों में किम्बा नेत्र - वाली जिन की वह। जिस समय स्वयं समय का अतिक्रमण कर के अर्थात् मिथ्यावादी बन कर श्रीकृष्ण संकेतस्थल में जाकर दूती को भेजते हैं परन्तु विरह-स्फुर्त्ति के कारण गोपियाँ नहीं मानती हैं, उन के सामने श्रीकृष्ण स्फुर्त्तिमान

हैं ठीक उसी प्रकार गोपियाँ भी श्रीकृष्ण के समक्ष स्फुर्त्ति प्राप्त होती हैं। किसी ने कहा है—

"वह तो पर्य्यंक में समस्त दिशाओं में" इस पद्य में-समस्त जगत् में वह, वह, वह, वह हैं यह अद्वैतबाद कहाँ से आगया है। अर्थात् सर्वत्र उस की स्फुर्त्ति हो रही है इस प्रकार। अतः इससे-उस समय उस प्रकार के आप वर्त्तमान हमारे विरह को तथा हम सब आपके विरह जात सन्ताप को किस प्रकार सहते हैं ? ऐसा हार्द सूचित होता है ॥१०॥

यहाँ क्रम प्राप्त नयनों के स्मरण से उनके सौन्दर्य्यातिशय को प्रातः देख कर उस समय की शोभा का वर्णन करती हैं। पहले तो आलस्यता के कारण नयनों का मुकुलितत्व पश्चात् ईषत् दृष्टि फैलने से अन्य प्रकार शोभा धारण कर लिया। पहले मुकुलितत्व का वर्णन कर पश्चात् दृष्टि का वर्णन करती हैं—'आकर्णारक्तसौन्दर्य्यलहरीदृष्टिमन्थरः" इस पद से। यहाँ "आकर्णारक्त" यह शब्द कमधारय समास युक्त नयनवाचक है। कर्णपर्य्यन्त प्रसारित ईषत् रक्त जो लोचन हैं उन की सौन्दर्य्यलहरी रूपा जो दृष्टि है वह मन्थरा अर्थात् अल्पगति वाली जिन की ऐसा अर्थ है। यहाँ सौन्दर्य्य की हृदय में स्थिति होने के कारण उक्त दोनों धर्म का प्राधान्य है किन्तु नयनों का ग्रहण नहीं है। दृष्टि का लहरा-रूप में निरूपण के कारण सौन्दर्य्य का समुद्ररूप ध्वनित होता है। अतएव सौन्दर्य्य का सीमारहित तथा दृष्टि की सरसता ज्ञात है। जहाँ दृष्टि पड़ती है उस देश को शीतल तथा यथा रूप से सरस बना लेती है यहाँ पुंलिङ्ग वाची तरङ्ग शब्द छोड़ कर स्त्रीलिंग लहरी शब्द प्रयोग से अन्तरङ्ग कार्य्य का सूचित है। अपने सजाति के कारण स्त्रियों में इस दृष्टि का जिस प्रकार पात होता है अन्यत्र इस प्रकार नहीं है। इससे गोपियों का आनयन में दृष्टि का दूतीरूपत्व ऐसा जानना। अत एव गोपियाँ

श्रीकृष्ण के दृष्टि पात मात्र से उन की वशवर्त्ती हो कर ब्रजनाथ उन का भजन करती हैं। यहाँ अन्य दूती के प्रेरण की अपेक्षा नहीं है यह सिद्धान्त है। अतः श्रीकृष्ण के अंग का एक देश सौन्दर्य्य के एक भाग से ही मोहित गोपियाँ समस्त त्याग कर केवल भजन करती हैं यदि ऐसा है तब सर्वांगसौन्दर्य्य देख कर भजेंगी तो इस में आश्चर्य्य क्या है ? सौन्दर्य्य-की लहरी रूप में निरूपण से जिस प्रकार दुग्ध-समुद्र की लहरियाँ दुग्धरूपा हैं उसी प्रकार दृष्टि ही सौन्दर्य्यरूपा है ऐसा सूचित है। पूर्वभाव-योग्य मन्थर पद के अन्त में दिये जाने का कारण-रात्रिजागरणादि के द्वारा निस्तब्ध होकर श्री-कृष्ण तूष्णीरूप में उस समय विराजते हैं। दोनों नेत्र उस प्रकार गति से अनेक कार्य्य करते हैं, यह सूचित होता है । लहरी पद से प्रान्त-दृष्टि सूचित होती है। समुद्र के प्रान्तभाग में लहरियाँ उठती हैं। किम्बा-पूर्वोक्त लहरी रूपा गोपियों की जो दृष्टि वह मन्थरा है जिस से वह। यहाँ नयन-वर्णन का प्रकरण है।

जिस समय श्रीकृष्ण के नयनों का दर्शन कर अतिशय सौन्दर्य्यवश गोपियों की दृष्टि स्थगित हो जाती है उस का स्मरण करके कहती हैं ऐसा जानना। गोपियों के नयन भगवन्नयनभावापन्न हैं इस की सूचना के लिये श्रीकृष्ण के नयन वर्णन प्रकरण में उन के नयनों का वर्णन है। स्वभाव से चञ्चल, रोकने पर भी स्थिरता रहित वे दृष्टियाँ जहाँ मन्थर हो जाती हैं तो औरों के विषय में कहना क्या है। लहरी पद से श्रीकृष्ण में अलौकिकधर्म का सूचित हो रहा है। भगवद्दृष्टि वर्णन पक्ष में भी उस-प्रकार की दृष्टि मन्थरा है जिसको, यहाँ उन के जिस प्रकार श्रीकृष्ण हैं श्रीकृष्ण के लिए भी गोपियों के मन्थर होने का कारण है । अतएव गोपियों में भी अलौकिक धर्म मौजूद है यह सूचित होता है। अथवा-"आकर्ण अर्थात् श्रीकृष्ण के कर्णपर्य्यन्त विराजमाना जो गोपियाँ हैं उन में रक्ता वह तथा

उस प्रकार की दृष्टि भी" यह कर्मधारय समास है । गोपियों का कर्णपर्य्यन्त वर्त्तमानत्व विपरीत भाव से है । उस समय सौन्दर्य्य-लहरी रूपा तथा रतिवेग के वश से अति चंचला जो दृष्टि है वह भावाधिगम के समय मन्थरा है जिस की ऐसा अर्थ है। अब भोगावसान सामयिक नयनों का वर्णन करके उस के पश्चात् उत्तर कालीन नेत्रों का वर्णन करती हैं—"घूर्णायमाननयन:" इस पद से—

अतिशय गोपी-सहस्र सम्भोग-रसासव के पान से ही घूर्णायमान रूप है। पक्ष्मों के बीच इधर उधर आलस्य युक्त गति विशेष विशिष्ट है।

किम्बा घूर्णा अर्थात् घूर्णायमाना जो मानवती गोपियाँ है वे सब गतिमती हैं जिस से वह । मान समय में भी जब कि श्रीकृष्ण के नयनों को देखती हैं, उस समय वे नहीं स्थिर हो सकती हैं अर्थात् मान से चलायमाना हो जाती हैं । श्रीकृष्ण के मिलनार्थ गतिमती हो जाती हैं यह अर्थ भी है। क्षणकाल के पश्चात् श्रीकृष्ण किञ्चित् दृष्टि का प्रसारण करते हैं इस प्रकार मान कर कहती हैं—"साचीक्षणविचक्षण:" इस पद से—

साचीक्षण अर्थात् ईषत् वक्रेक्षण उस से किया जाता है अत्यन्त विलक्षणत्व अर्थात् अशक्य निर्वचनीय उस समय का सौन्दर्य्यत्व ऐसा भाव । किम्बा उस प्रकार से किये जाते हैं विगत लक्षणानि अर्थात् चेष्टादि चिन्हानि जिस से वह । इस प्रकार के नयनदर्शन अनन्तर ही सब चित्रिता होती हैं। किम्बा "साचि:" अर्थात् अल्प ईक्षण जिस समय में वह प्रात:काल है। उस समय कज्जल-कुंकुम रेखादिओं से विशिष्ट लक्षण प्राप्त अंगसमूह जिन का वह । उस समय विलक्षण अर्थात् अशक्य अनिर्वचनीय सौन्दर्य्य प्रकाशमान है । किम्बा-साचीक्षण पद से पूर्वन्याय से अन्धकार रात्रि कही जाती है। उस रात्रि में "वे:" अर्थात् मयूरादि लक्षण पक्षी उनके

समान कूजन हैं जिन का। यह ऐसा है कि—जिस समय दिवस में संकेत कर के रात्रि में उस प्रकार निबिड़ निकुञ्ज में विराजमान हो कर श्रीकृष्ण गोपियों की प्रतीक्षा करते हैं तथा गोपियाँ नील नोचोल पहर कर सज्जित हो घर से आ कर अन्धकार रात्रि में गहनवन के कारण संकेत स्थल को जानने में अशक्त होती हैं उस समय श्रीकृष्ण 'अन्य कोई नहीं जानें केवल गोपियाँ जान लेवें" इस लिये किये हुए संकेत स्थान को जताने के लिये मयूरादि के शब्द का अनुकरण करते हैं। जब उस समय वे उस प्रकार चेष्टा के द्वारा हम सबके इष्टकारक होते हैं तो वर्त्तमान में क्यों नहीं ऐसा होता है यह भाव है। मार्गप्रापण नयन-कार्य्य से होता है अतः कूजनादि नयनप्रकरण में ही कहा गया है। किम्बा-मान से ईषत् वक्र ईक्षण बाली जो गोपियाँ है उन में विलक्षण अर्थात् अतिचतुर मानादि दूरीकरण विषय में जो वह ऐसा अर्थ है॥११॥

तत्कालीन अपनी अवस्था का स्मरण कर कहती हैं—"अपांगेङ्गितसौभाग्यतरलीकृतचेतनः" इस पद से—अपांग अर्थात् स्वभाव से ईषत् वक्र नयनाञ्चल से जो ईक्षण, उस प्रकार जो इंगित अर्थात् चेष्टा उस से जो सौभाग्य अर्थात् सौन्दर्य्य उस से तरलीकृता अर्थात् चंचलीकृता सब की चेतना जिन्हों ने वह। इस प्रकार के सौन्दर्य्य-दर्शन के अनन्तर अत्यन्त आर्त्ति प्राप्ति के कारण मूर्च्छा आ गई, फिर वहुत समय के पश्चात् मूर्च्छा का अपगम हुआ, उस समय उन का समागम हुआ, अतः चेतना चंचल होने लगी ऐसा अर्थ है। किम्बा-अपांगों के जो ईंगित अर्थात् सुरत में इच्छा रखने वाला भाव विशेष के ज्ञापक अलस संबलित वस्तु है वह। उसने हम सब के जो सौभाग्य है उस को तरलीकृता अर्थात् पूर्वस्थित पातिव्रत्य-कुलधर्मादि शून्य कर प्राण को तरलित कर दिया है। इस से श्रीकृष्ण की प्राप्ति से ही उन के जीवन की स्थिति है, अन्य

प्रकार से नहीं है ऐसा कहा गया है। अतः एव रास के समय अन्त-र्गृह में रुक जाने वाली गोपियों की वही दशा हो गई थी। गोपियों ने अपने को कहा भी था कि हम सब के प्राण आप ही हैं।

अथवा—तरला अर्थात् तरंग-समूहा तद्विशिष्ट जो समुद्र ऐसा अर्थ है। अर्थात् अपांगेङ्गित रूप जो सौन्दर्य्य समुद्र है उस से की हुई चेतना अर्थात् चेतना प्राप्त हुई है जिस से वह। तात्पर्य्य-श्रीकृष्ण के विरह से गोपियों का चैतन्य दूर हो गया था, जब कि श्रीकृष्ण पुनः आ कर उस प्रकार अपांग से देखने लगे तो उस समय सब को चेतना हुई। यहाँ "कृत" पद से चेतना का नूतनत्व ध्वनित होता है। अथवा-अपांगेङ्गित तथा सौभाग्य यह द्वन्द्व समास है। उन दोनों से तरलीकृता चेतना अर्थात् बुद्धि जिन्होंने वह। जब कि प्रातः काल श्रीकृष्ण दूसरी के घर से आये, तब उस ने "मैं कुछ नहीं कहूँगी" इस प्रकार अपनी बुद्धि में निश्चय कर लिया था। परन्तु श्रीकृष्ण के अपांग तथा सौन्दर्य्य के द्वारा बुद्धि की स्थिरता नहीं रही।

अथवा—अपगत हो गया अंग जिस का यह अपांग अर्थात् अनंग है। तत्सम्बन्धी जो इंगित अर्थात् क्रीड़ा-रूप चेष्टा है उस से जनित (उत्पन्न) व तद्रूप प्राप्त जो हम सब के सौभाग्य है उस के रहने पर भी तरलीकृता चेतना अर्थात् सावधानता जिनसे वह। महान् सुरतक्रीड़ाओं से अत्यन्त श्रान्त, रात्रिजागरण से उत्पन्न निद्रा से स्खलित गतिवाली गोपियों की सावधानता नहीं थी। इस प्रकार वहु वार नयन सौन्दर्य्य का निरूपण कर के फिर जिस समय समस्त गोपियों के समाज में बैठ कर भुजा प्रसारादि के साथ हास्य करते हुए लीला से विशेष हास्य रस प्रकाश के लिये किम्बा—गोपियों को सन्तोषित कराने के लिये श्रीकृष्ण ईषत् नेत्रों को मूँद कर फिर गोपियों को देखने लगे है उस समय जो महान् सौन्दय्य

विशेष का अनुभव हुआ है उस का स्मरण कर कहती हैं—"ईषन्मुद्रितलोलाक्षः" इस पद से । अल्प मुद्रित तथा चञ्चल नेत्र जिन के वह । किम्वा ईषत् मुद्रित तथा सुरतान्त में चंचल नेत्र हैं जिनके वह । "श्लिष्यति कामपि" इस प्रकार गीतगोविन्द उक्त गान के प्रकार से नितम्बिनी समूह में रमण करने के समय उस प्रकार भाव कहा गया है । अतः ईषत् मुद्रिताक्ष तथा लोलाक्ष ये दो नाम अक्षः पद से पर्य्यवसित है । अथवा-लोला अर्थात् लक्ष्मी, तात्पर्य्य शोभा है । अग्रिम पद भावप्रधान है । अर्थ-ईषत् मुद्रितत्व के द्वारा हुई ज़ो शोभा तद्युक्त नेत्र दोनों जिन के वह । दीर्घनयनों के ईषत् मुद्रण में अधिक शोभा अनुभव सिद्ध है । अथवा-पहले गोपियाँ नहीं आई थीं, पुनः वे जब आने लगीं उस समय रहस्यस्थान में मिथ्याशयन कर के ऊपर में सूक्ष्मवस्त्र ओढ़ कर भीतर में नेत्रों को ईषत् खोल कर कि "वे नहीं जानेंगी तथा क्या करेंगी अथवा क्या कहेंगी" उसे जानने के लिये उस प्रकार लोलाक्ष होते हैं और इतस्ततः देखने लगते हैं उस समय श्रीकृष्ण को सोते हुए देख कर गोपियाँ आपस में निज निज रहस्य कथा तथा परस्पर चुम्बन-आलिंगनादि करने लगीं । उस समय श्रीकृष्ण अकस्मात् उठ कर सो गये इस ज्ञान से अपने को चुम्बन करने वाली किसी गोपी को पकड़ कर चुम्बन करने लगे तथा उन से परस्पर में जो कहे गये उनका अनुबाद करने लगे । उस समय सब के अन्योऽन्य ईक्षण पूर्वक, लज्जाहास्य युक्त महान् रस उत्पन्न होता है उस का स्मरण करके ऐसा कहने लगीं । किम्बा-जिस समय अंचल से कुछ आच्छन्न, कुछ प्रकट राधा के हृदय प्रदेश को श्रीकृष्ण वार वार देखते थे उस का स्मरण कर ऐसा कहने लगीं । ईषत् आच्छन्न गोपीहृदय-मण्डल में लोलाक्ष यह अर्थ है । अब क्रम प्राप्त नासिका का वर्णन करती हैं—"सुनासापुटसुन्दरः" इस पद से—शोभन जो नासापुट हैं उन के

द्वारा सुन्दर अर्थात् अतिमोहन ऐसा अर्थ है। दोनों शोभनत्व कनकगुम्फितमुक्ताफलवान हैं। दोनों में समानता उन्नतता तथा है। अर्थात दोनों समान, कुछ उन्नत भी हैं। यहाँ पुट शब्द से दोनों पत्तों से बने हुए तथा रसद्रव्य को रखने के लिये किम्बा पान करने के लिये साधनीभूत वस्तु हैं। यहाँ विचार करने से ऐसा ध्वनित होता कि— दोनों पास के अवयव पर्ण अर्थात् पत्र रूप है तथा पत्र की भाँति पतले भी है और नासिका सौन्दर्य्यामृत का स्थान रूप है। अतः उनके द्वारा किया हुआ सौन्दर्य्य का निरूपण आगे किया जाता है ॥१२॥

इस प्रकार सौन्दर्य्य का निरूपण होने के पश्चात् कभी पहले नासा के मुक्ताफल तथा कुण्डलों की प्रभा से अतिशय सौन्दर्य्य का दर्शन कर सहज सुन्दर गण्डमण्डल में चुम्बन करती हैं उस का स्मरण कर अधर से पहले गण्डमण्डल का निरूपण करती हैं। इस के कुंडल तथा उस की प्रभा से व्याप्त के कारण तथा उन दोनों के कर्ण में स्थित के कारण एक का स्मरण में सम्बन्ध के कारण तीनों का स्मरण कर कहती हैं—"गण्डप्रान्तोल्लसत्कर्णमकराकृतिकुण्डलः" इस पद से। गण्डों के जो प्रान्त देश उन में उल्लसत् देदीप्यमान कर्णसम्बन्धि मकराकार कुंडल जिन के वह। किम्बा उल्लसत्पद कर्ण का विशेषण है। इस से कर्णों की कुण्डलों के द्वारा शोभा नहीं है किन्तु स्वय ही अतिसुन्दर हैं ऐसा जाना जाता है। जिस प्रकार कि नयनों की अत्यन्त सरसता है उस प्रकार कर्णों की अन्यत्र अनुभव न होने के कारण सरसता नहीं है ऐसी किसी का कुबुद्धि न हों इस लिये कर्णों में मकराकार कुंडल का धारण कहा गया है। कुण्डलों की सरस देश में स्थिति के कारण उन के साम्य प्राप्त कर्णों का रसमयत्व जाना जाता है। अतः जैसा कि नेत्र-मात्र दर्शन से महान् रस उत्पन्न होता है ठीक उसी प्रकार

कर्णों का दर्शन से रस प्रकट है ऐसा भाव है। अनन्तर चुम्बन से अत्यन्त प्रसन्नता प्राप्त भगवान् के उस प्रकार आनन को देख कर स्वयं अत्यधिक आनन्दित हुई ऐसा स्मरण कर कहती हैं—"प्रसन्नानन्दवदनः" इस पद से—प्रसन्न तथा आनन्दरूप वदन जिस के वह। किम्बा किसी समय अपने में अपराध हो जाने पर भी श्रीकृष्ण के आनन प्रसन्न रूप देख कर आनन्दिता हुईं उस का स्मरण कर कहने लगी हैं। इस से किसी अपराध से वर्त्तमान श्रीकृष्ण नहीं मिलते हैं यह शंका रही नहीं। किम्बा—प्रकर्ष रूप से सन्नाः अर्थात् सूक्ष्मा तात्पर्य्य कृशा जो गोपियाँ हैं उन के आनन्द रूप वदन जिन के वह ऐसा अर्थ है। विरह से अत्यन्त कृशता प्राप्त उन के भगवद्-मुखावलोकन से ही महान् आनन्द उत्पन्न होता है। अतः यह नाम प्रकृत उपयोगी है। अथवा—प्रसन्न अर्थात् प्रकट तथा तादृश आनन्द-रूप वदन जिन का वह।

अथवा प्रसन्ना जो गोपियाँ हैं उन से आनन्द युक्त वदन है जिन का वह। जब किसी समय पहले समय का निर्बन्ध करके समस्त रात्रि बिता कर प्रातः श्रीकृष्ण आये, वह मानादि के कारण अप्रसन्ना हुई। श्रीकृष्ण ने "वदसि यदि किञ्चिदपि" इत्यादि गान का अर्थ अनुकरण के द्वारा मान का दूरीकरण किया, तब वह पहले की तरह उत्फुल्लवदना प्रकटानुरागवती हुईं। श्रीकृष्ण भी आनन्दित हुए, उस का स्मरण कर ऐसा कहने लगीं। अब मेरे प्रार्थना करने पर भी क्यों नहीं ऐसा करते हो यह भाव है। इस प्रकार के स्मरण से अत्यन्त सन्ताप उत्पन्न होने पर वह अत्यन्त आर्त्ता हो कर उस को दूर करने के लिये श्रीकृष्ण के आनन को चन्द्र रूप में निरूपण करती हैं। यह ही हमारे ताप को दूर करने वाला है, अन्य कोई नहीं है इसी अभिप्राय से कहने लगीं, अतएव इस में पुनरुक्ति दोष नहीं रहा है। "जगदाल्हादकाननः" जगत्

समस्त का आल्हादकारी आनन जिनका वह । समस्त इन्द्रिय-अन्तःकरण व्यापक आनन्द-विशेष आल्हाद है। इस का सर्वत्र ही कोक रूप गोपीहृदय में संश्लेषता के कारण, गोपीमुखकमलादि विकसित करने के कारण, रात्रि में भी बृन्दावनस्थित कोक-कमलादि को आनन्द प्रदान के कारण प्रसिद्ध चन्द्र से अतिशयत्व सूचित होता है । प्रसिद्ध चन्द्र में उन विषय (अतिशयत्व) का अभाव है ।

वह प्रसिद्ध चन्द्र जैसा कि उस के लिये सृष्ट है ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र हम सब को आल्हादित करने के लिये प्रकट है। वह उन का प्रधान निज कार्य्य है। वह यदि अपने कार्य्य करते हैं तो अपने अवतार लेने के प्रयोजन को नहीं जान सकते हैं ऐसा भाव है। गोपियों के द्वारा भागवत में ऐसा कहा गया है कि— "ब्रज के भय-आर्त्ति प्रभृति को दूर करने के लिये ही आप का प्रकट है" "ब्रज-वनवासियों का" इत्यादि श्लोक में भी ऐसा वर्णन है। "जगत् का आल्हाद जिसके द्वारा उस प्रकार वा आनन जिनके वह, ऐसा अर्थ प्रकरणविरोध के कारण उपेक्षित है ॥१३॥

इस प्रकार आल्हाद के कारण चन्द्रत्व तथा उस से भी अतिशयत्व का निरूपण करके इसके पश्चात् प्रकाशकत्व रूप से उन दोनों का निरूपण करती हैं—"सुस्मेराधृतलावण्यप्रकाशीकृतदिङ्मुखः" इस पद से—

सुस्मेरों से अर्थात् मदन-चन्द्रादिकों से भी अतिसुन्दर जो मन्दहास्य उनसे धारण किये हुए जो लावण्य अर्थात् सौन्दर्य्य है उससे प्रकाशीकृतानि अर्थात् प्रकाशयुक्त की गई दश दिशाएं जिनसे वह। यहाँ प्रकरण बल से मुखारविन्द का ही जानना । यद्यपि दश दिशाएं चन्द्रादिकों से प्रकाशयुक्त हैं तो भी श्रीकृष्ण के मुखारविन्द की उस प्रकार प्रभा से ही प्रकाशयुक्त होती हैं इसका ज्ञापनार्थ

सुस्मेराधृत यह विषेशण है । नहीं तो केवल लावण्य ऐसा कहा जाता था । यहाँ दिङ्मात्र ऐसा बोलने में जो मुख को उक्ति है उससे दिशाओं के स्त्रीत्व के कारण जब उनके मुखों को प्रकाशयुक्त करता है तब हम सब के मुखों को उस प्रकार क्यों नहीं करेगा ऐसा भाव सूचित होता है । उस से वह स्त्रियों का ही हित कारक है यह सूचित है । अतः वह नाम अपने भगवत्संग-आशा रूपी लता के अवलम्बन रूप कदम्बवृक्ष स्वरूप है ऐसा जानना । किम्बा पूर्वोक्त सुस्मेरों से आ अर्थात् ईषत् धृत लावण्य जिस का वह । प्रकरण बल से तादृश मुखारविन्द का हो ग्रहण है । मन्मथादिक भगवत् मुखारविन्द सौन्दर्य्य के कोटि अंश के एक अंश धारण करके लोक में अत्यन्त सुन्दर कहे जाते हैं ऐसा भाव है । इसी लिये अन्धकारादि रमण में श्रीकृष्ण के मुख-चन्द्रमादि के होने के कारण चन्द्रादि की अपेक्षा नहीं है ऐसा सूचित होता है। अथवा-सुस्मेरा अर्थात् गोपियाँ उनके द्वारा श्रीकृष्ण ने अपने में धारण किया जो लावण्य उससे । तात्पर्य-गोपियों से वेष्टित अथच उन से कृतश्रृङ्गार उन के सम्भोग से उत्पन्न कुंकुम-कज्जलादि रेखा विशिष्ट श्रीकृष्ण के मुखारविन्द के जो लावण्य वह । किम्बा-सुस्मेरा निमित्त धारण किया गया जो लावण्य ऐसा अर्थ। "तासामाविर-भूत्" इस श्लोक से "अनुग्रहाय भूतानाम्" इस श्लोक से भी ऐसा कहा गया है । अथवा पूर्व नाम से उत्पन्न आल्हाद के स्मरण से कभी श्रीकृष्ण राधिकामिलन आल्हाद से सहास्य वदन होते हैं उस समय का स्मरण करके कहती हैं—सुस्मेर इस पद से। अतः इससे प्रकाश का वर्णन है। अतएव उस समय दन्तावली प्रकट दीखती है अधर भी प्रकट दिखता है । उस का वर्णन करती हैं—"सिन्दुरा-रुणसुस्निग्धमाणिक्यदशनच्छद:" इस पद से । स्निग्ध अर्थात् चिक्कण-व शोभायमान किम्बा स्नेह के विषय जो माणिक्य आरक्त

मौल्यमणिविशेष हैं उन के समान जो दशन समूह हैं। यहाँ अन्त में दशन का वर्णन है। अथ च सिन्दूर के समान अरुण सुस्निग्ध जो माणिक्य हैं उसके समान जो दशन अर्थात् दन्तावली है उनका छद अर्थात् आच्छादक अधर जिन का वह ऐसा अर्थ है। अधर में माणिक्य दृष्टान्त चाकचक्यता के कारण है। जिस प्रकार कि मणि सब के प्रिय है परन्तु इस के मर्मज्ञ इस की वार्त्ता में अभिनिविष्ट चित्तवाला परीक्षक जन माना जाता है, ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी सब के प्रिय हैं, परन्तु महान् सुरत से सञ्जात दन्तक्षत तथा अधरपान करने वाली गोपियाँ ही उन की मर्मज्ञा हैं ऐसा सूचित होता है। इससे स्नेहातिशय का सूचित है। सिन्दूर दृष्टान्त से उस से रहित दुर्भगात्व का सूचित हो रहा है। अथवा–सिन्दूरारुण जो अधर है उस में स्निग्धाः अर्थात् स्नेहवती हैं वे गोपियाँ उन में माणिक्य रूप दशनों का छद अर्थात् समूह जिनका वह। किम्बा दशन समूह तथा उनके छद भी जिनका वह ऐसा अर्थ है। यहाँ माणिक्य पद से जैसा कि माणिक्य–आभरणों से अधिक शोभा होती है ठीक उसी प्रकार दशनाधरचिन्हों से अधिक शोभा है यह सूचित होता है ॥१४॥

अब श्रीकृष्ण के द्वारा राधा के सीत्कार किये जाने पर "क्यों व्यथिता होती हो" जब इस प्रकार श्रीकृष्ण कहने लगते हैं उस समय उस से भी अधिक सुख का अनुभव होता है, उसका स्मरण कर कहती हैं—"पीयूषाधिकमाध्वीकसूक्तः" इस नाम से—

पीयूष अर्थात् अमृत से भी अधिक मधु जिस में इस प्रकार शोभन उक्ति जिनकी है वह। पीयूष से अधिक वह असाध्यसाधक रूप है। "सिञ्चांग न" इस श्लोक में निरूपित किया गया है। "तुम्हारे अंगसंगामृत मात्र से" "इस प्रकार के कन्दर्पज्वर से" इत्यादि गीतगोबिन्द में भी बचन है। देवताओं के अमृत से असाध्य

अनंग के जीवन रूपत्व स्पष्ट है । उक्ति में शोभनत्व का आशय-श्रीकृष्ण के द्वारा उच्चारण किये जाने पर ईषत् प्रकाशमान दन्त-प्रभा की पंक्ति से नवीन मणिमय तोरण शोभा का प्राकट्य होता है। मंगल में ही तोरण का विधान किया जाता है । इस प्रकार उक्ति-स्मरण के पश्चात्-जब कभी विरह से गोपियाँ मूर्च्छित हो जाती हैं श्रीकृष्ण आकर मधुर बचन से मूर्च्छा को दूर करते हैं, उस का स्मरण कर कहती हैं-"श्रुतिरसायन:" इस पद से—

श्रुति अर्थात् श्रवणेन्द्रिय तत्सम्बन्धी रसायन अर्थात् महौषधि रूप ऐसा अर्थ है। अथवा पीयूषाधिक से लेकर रसायन पर्य्यन्त एक ही नाम है। वहाँ ऐसा अर्थ है कि—पीयूष से अधिक माध्वीक उक्ति के द्वारा गोपियों के कर्णों में रसायन रूप । अथवा सूक्ति के द्वारा माध्वीकता के निरूपण से मुख का अति सरस कमल रूप ध्वनित होता है । कमल जिस प्रकार भ्रमर के द्वारा नियन्त्रित होता है यहाँ भी श्रीकृष्ण के श्रीमुख गोपियों के नयन-चुम्बन किये जाने के पश्चात् उस से नीलिमा प्राप्त अधर विशिष्ट हो गया है। अत एव अवधि देकर श्रीकृष्ण के अन्यत्र चले जाने पर अत्यन्त आर्त्ति से जब गोपियाँ मूर्च्छित हो जाती हैं, पुन: प्रात:काल में आकर वचनों के द्वारा ही समाधान करते हैं इस से महौषधि रूप का संगत होता है। किम्बा तादृश सूक्ति रूप जो श्रवण सम्बधी रस उस का अयन रूप ऐसा अर्थ है . पुंलिग प्रयोग छान्दस है । अब रास के पहले आई हुई गोपियों को "स्वागतं वो महाभागा" इस प्रकार जो बोले थे उस का स्मरण करके, उस समय श्रीकृष्ण वचन के द्वारा निवारण करते हुए भी त्रिभंग स्वरूप से मोहित एव अपनी बना कर रस प्रदान करने लगे थे उस प्रकार अभी करें इस अभिप्राय से उस स्वरूप का बर्णन करती हैं—"त्रिभंगललित:" इस नाम से—त्रिषु अंगेषु अर्थात् ग्रीवा-कटि-चरणों में जो भंग अर्थात् अन्यथा-

भाव जिन के वह । अथवा तीन प्रकार का भंग त्रिभंग । ललित अतिसुन्दर ऐसा अर्थ है। अत्यधिक वेणुवादन के कारण कुछ बांई तरफ शरीर को झुकाकर जिस से कि स्त्रीगण मोहित हो उस प्रकार विराजमान होते हैं, उस समय ग्रीवा स्वत तिरछी हो जाती है, उस से अत्यधिक शोभा होती है, उसका स्मरण कर कहती हैं—"तीर्यंग्ग्रीव:" इस नाम से—अत एव भागवत में "वामवाहुकृत-वामकपोल" इत्यादि वचन से देवस्त्रीमोहक बांई तरफ परावृत्त वेणुनाद का कथन है । अच्छा दोनों किम्बा चारों अंगों में भंगित्व क्यों नहीं ऐसी शंका करती हुई त्रिभंग के तात्पर्य्य रूप नाम को कहती हैं—"त्रैलोक्यमोहन:" इस पद से। यहाँ यह अर्थ है—लोक त्रय रूप तीनों अंग में अन्यथा भाव सम्पादन के कारण-त्रिलोक के आर्य मार्ग रूप पूर्व रूप का ही अन्यथा करण सूचित होता है । तीनों अंग में से एक ही अंग तीनों लोकों का अन्य प्रकार करने में समर्थ है । त्रयी अर्थात् वेद त्रय रूप त्रिवली की भाँति कंठ में अन्यथा भाव सम्पादन से त्रिलोक के भी वेदत्रय निरूपित कर्ममार्ग का त्याग सूचित होता है । निर्गुण उपासक के समाधि रूप कटि-नाभि के उस प्रकार अर्थात् अन्य प्रकार करने के कारण ज्ञानमार्ग का त्याग होता है । अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण शून्यता में उस प्रकार है इससे भगवत्ता का विरोध नहीं है । मर्य्यादाभक्ति रूप दक्षिण चरण कमल के अन्यथा भाव सम्पादन के कारण एवं पुष्टि-भक्तिरूप सुस्थिर वाम पद को आश्रित रूप कराने के कारण मर्य्यादा रूप विहित भक्ति का त्याग तथा पुष्टि रूप कामादि मार्ग से भजन सम्पादन होता है। अत: गोपियों के लिये ही ऐसा स्वरूप प्रकट किया गया है ऐसा जानना । नहीं तो गोपियों के द्वारा मर्य्यादा का त्याग नहीं होता । इस स्वरूप से अन्यों का मनोहरण जो होता है वह तो-जैसा कि कामिनी कामुक के अनुरञ्जन के लिये

हो मृगमद लेपन करती है, अन्य के लिये नहीं है। परन्तु मृगमद-लेपन का गन्ध अप्रतिहत स्वभाव के कारण सखियों को भी अनुभूत होता है किन्तु विचार करने पर कामुक ही उस के भोक्ता है ॥१५॥

इस प्रकार निज मोहक रूप का कथन करके उस के सहाय रूप अधरामृत के साथ वेणुनाद का वर्णन करती हैं—"कुञ्चिताधर-संसिक्तकूजद्वेणुविनोदवान्" इस नाम से—

कुञ्चित जो अधर उससे सम्यक् सिक्त अतः कूजन् अर्थात् शब्दायमान जो वेणु उसमें जो विनोद अर्थात् विविध मूर्च्छनादि तद्-विशिष्ट। वादन प्रकार विशेषता से किसी गोपी का आह्वान, किसी का मोहन, किसी की जड़ता, किसी गोपी का चैतन्य इस प्रकार एक ही साथ नाना कार्य्य साधन रूप विनोद शब्द का अर्थ है। "निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनम्" "कुजगतिं गमिता न विदामः" "अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्" इस प्रकार भागवत में कहा गया है। अर्थात् "काम वर्द्धक उस वेणुगीत का श्रवण कर व्रज-गोपियाँ उत्कण्ठिता हो कर चलने लगीं" "हम सब जडगति को प्राप्त हो कर कुछ नहीं जानने लगीं" "गतिधारियों में जड़ता, तथा वृक्षों में पुलकावली आ गयी" इस प्रकार एक ही साथ नाना कार्य्य सम्पादन करने वाला वेणुनाद है। यहाँ अधर का सिंचन क्रिया निरूपण से अमृत रूप का ध्वनित होता है। सिंचन क्रिया द्रव वस्तु से होती है, अन्य वस्तु में उसका अभाव है। वह द्रवत्व अधर में रहता है। वेणुजात शब्द श्रवण से स्वयं साक्षात् सिक्त हो कर उस सींचन के द्वारा हम सबको भी सिञ्चित करता है। जिस प्रकार कोकिलादि कूजन से रस का उद्बोध होता है। यह सब विषय रस-शास्त्र से सिद्ध अर्थात् जाना जाता है। ठीक उसी प्रकार वेणुनाद से उसका उद्बोध है यह सब हम सबके अनुभव सिद्ध है, कूजत्पद प्रयोग

करने का यह भाव है। मोहन की सहायता रूप में इसका निरूपण किये जाने के कारण यह ध्वनित होता कि—हम सब के मोहन में श्रीकृष्ण का कोई प्रयास नहीं होता है। इस लिये विनोद पद दिया गया है। इस प्रकार वेणु का वर्णन कर उस के आधार का वर्णन करती हैं—"कंकणाङ्गदकेयूरमुद्रिकाविलसद्भुजः" इस पद से—

कंकण के ऊपर अंगद, उस के ऊपर केयूर यह क्रम है। मुद्रिका सब अंगुलियों में विराजमान है। आदि शब्द से नखशुक्ति कही जाती है। उस के गुप्त रहने के कारण आदि शब्द से माना जाता है। इन द्रव्यों से "लसन्तौ" अर्थात् शोभायमान भुज जिन के वह। अंगुलियों आदि के भुजों के अवयव होने के कारण मुद्रिकाओं का भुजों के शोभारूप कहा गया है। अथवा-इस प्रकार वेणु वर्णन से जब कभी श्रीकृष्ण वेणु से अपने नाम लेकर आह्वान करते हैं उस समय राधिका रहस्य स्थान में आकर श्रीकृष्ण के भुजाओं को अपनी भुजाओं में धारण कराती है, श्रीकृष्ण भी राधिका की भुजाओं को अपनी भुजाओं में, उस समय अपने किम्बा श्रीकृष्ण के कंकण-अंगदादियों से श्रीकृष्ण की भुजाओं में अत्यन्त शोभा देखने में आती है उसका स्मरण कर कहती हैं—"कंकण" इत्यादि पद से। अतः यहाँ कंकणादि गोपियों के हैं। इस से उन की स्थिति का क्रम बैठ जाता है। बाहु मध्य स्थित केयूर के ऊपर राधिका की मुद्रिकादि की स्थिति है ऐसा संगत होता है। यहाँ आदि शब्द से सुवर्ण-कंकण काचकंकण, नखशुक्ति आदिक हमारे हृदय स्थित अनेक कहे जाते हैं। इस लिये "लसद्भुज" ऐसा कहना सुन्दर हुआ है। अथवा—मुद्रिका आदि में है जिनके वे, तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि से यह अर्थ है। वहाँ कंकण-अंगद-केयूर भी है, वे मुद्रिकादि भी हैं ऐसा कर्मधारय समास है। अतः भगवदीयत्व पक्ष में भी अक्रम नहीं है ॥१६॥

अब क्रम से कौस्तुभादि देखे जाने के कारण क्रम से उसका वर्णन करती हैं—"स्वर्णसूत्रसुविन्यस्तकौस्तुभामुक्तकन्धरः" इस पद से—

सुवर्णमय सूतों से सुन्दर विन्यस्त जो कौस्तुभ मणिमय आभरण है उस से आमुक्त अर्थात् व्याप्त कन्धरा अर्थात् कन्धभाग जिनके वह। तादृश कौस्तुभ से युक्त एवं विशाल जो स्कन्धभाग वह जिन के यह कर्मधारय समास है। अथवा—पहले स्वर्णसूत्र से सुन्दर विन्यस्त जो कौस्तुभ वह पश्चात् रतिसमय में उस के रहने से जो अन्तराय उत्पन्न हुआ है उस कारण असहिष्णु वश में आकर उतार दिया गया है उस से आ अर्थात् समन्तात् मुक्त अर्थात् त्यक्त कन्धरा जिन की वह।

अब "मुक्ताहारोल्लसद्वक्षःस्फुरच्छ्रीवत्सलाञ्छनः" इस का वर्णन करती हैं—मुक्ताहारों से उत् अर्थात् अतिशय से लसत् अर्थात् शोभायमान जो वक्षः उसमें स्फुरत् अर्थात् प्रकाशमान श्रीवत्स रूप लाञ्छन (चिन्ह) जिन के वह। अथवा मुक्ताहार उल्लसद्वक्षः के द्वारा स्फूर्त्तिशाली जो श्री वह वत्सलाञ्छन। जिस प्रकार राधिका श्रीकृष्ण के नख पदादि से चिन्हित वक्षः वाली है ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी राधिका के नख-पद-कुंकुम-कज्जलादियों से अंकित वक्षः वाले ऐसा अर्थ है। निज कन्धें में धृत बाहु के स्मरण होने पर ऐसा कथन से उस समय राधा के करस्पर्श जनित रोमाञ्च-आनन्दादि के द्वारा स्वभावतः ही कन्धे कुछ ऊँचे उठे हुए हैं उससे श्रीकृष्ण के वे कन्धे मनोहर देखे जा रहे हैं इस लिये श्रीदृष्टान्त दिया गया है। गोपी का परित्याग कर श्रीदृष्टान्त देने का यह भाव है। यदि किसी गोपी के निकट प्राणनाथ हैं तब मेरा इस प्रकार दुःख नहीं होता। यहाँ परस्पर में सबकी निष्कपट प्रीति ऐसा सूचित होता है। विरह में भी ऐसा स्वभाव हो जाता है।

दुःख के सम्भव में प्रिय भी सह्य नहीं कर सकते हैं। यदि किसी प्रकार प्रिय उस विरह का सहन कर भी लेते हैं तो गोपियाँ नहीं सह सकती हैं, वे बलात् प्रिय को यहाँ लाती हैं। वर्त्तमान ऐसा अभाव है। अतः लक्ष्मी समीप में हैं ऐसा भावार्थ है। इसका विस्तार अब नहीं किया जा सकता है ॥१७॥

अब हृदय का वर्णन करती हैं—"आपीनहृदयो" इस पद से। आ अर्थात् सम्यक् रूप से पीन अर्थात् स्थूल हृदय जिन के वह। इस से दोनों स्तनभाग के मध्यदेश वर्णित हो रहा है। उन्नत उस मध्यदेश की सुन्दरता के कारण ऐसा कहा गया है। अथवा आ अर्थात् सम्यक् रूप से पीना अर्थात् स्थूलस्वरूपा गोपियों के कुच-कमल हृदय में जिनके ऐसा अथ है। किम्बा गोपियों का आपीन विस्तृत हृदय जिसमें यह अर्थ है। अब उसके अधःस्थिता माला का वर्णन करती हैं—नीपमाल्यवान् इस पद से। नितरां अर्थात् अति-शय रूप से "इ" अर्थात् काम को "पाति" अर्थात् रक्षा करता है वह नीप उस से रचित माला का धारण करने वाला ऐसा अर्थ है। नीप शब्द से सूक्ष्म कदम्ब-कुसुम-समूह अथवा नीपवृक्ष कहा जाता है। उस से हृदय में कामजात काम-रक्षकता के धारण से निरन्तर सकामत्व सूचित होता है जिससे इस प्रकार के अपने अभिलाष की सूचना होती है। अब "बन्धुरोदरः" इस पद से उदर का वर्णन करती हैं—बन्धुर अर्थात् निम्नोन्नत, मध्य में किञ्चित् उन्नत दोनों पार्श्व के नीचे ईषत् निम्न इस प्रकार उदर जिनका वह। अथवा बन्धु इस पद से हरि यह नामधारी साधर्म्यवान् सिंह कहे जाते हैं। उन को राति अर्थात् र एवं ल का अभेद है इस न्याय से रकार के स्थान पर लकार प्रयोग करके उन को लाति अर्थात् आदत्ते अर्थात् आत्मसात् करता है उदर जिन का वह। सिंह के उदर की भाँति कृशता के कारण श्रीहरि का उदर

मनोहर है यह भावार्थ।

संवीतपीतवसन—संवीत अर्थात् वेष्टित है पीतवसन जिन का वह, किंबा देखने के लिए जो विषयांग समूह हैं उनके अन्तराय रूप से अर्थात् निज पीतवसन दर्शन के द्वारा विषय-वृत्तियों को तुच्छ करते हुए श्रीकृष्ण गोपियों की दृष्टि को अत्यंत उत्कण्ठा के साथ आकर्षित करते हैं। तात्पर्य-गोपियों की दृष्टि श्रीकृष्ण के पीतवसन में बंधी हुई ठहरी है इसी लिए पीतवसन को श्रीकृष्णने धारण किया है। इसमें कर्मधारय समास का भी सम्पादन होता है।

किम्बा किसी समय मान के द्वारा विरहकातरा श्रीराधा के द्वारा अकस्मात् प्रकटित हो दूर से भागकर आलिंगित हुए उस समय अपने हृदय और भुजा, कंकण, अञ्चलादियों से श्रीकृष्ण के पीतवसन वेष्टित हुआ। अब श्रीराधिका उसका स्मरण करती हुई अहो! इस प्रकार फिर कब होगा ऐसा मनोरथ द्वारा इस नाम का उच्चारण करती हैं।

इस प्रकार दृष्टि ढकने से गोपनीय भाव प्रकट होता है। इसी लिए संवीत शब्द का प्रयोग किया गया है। किंबा यहाँ पर उत्तरीय का वर्णन है, उसका आश्लेष अन्तराय रूप दृष्टि-संवीतत्व जानना। किंबा संवीत अर्थात् सर्वदा वृत अर्थात् वर्तमान गुप्त रसावस्थान जिनमें। वहाँ पर पीत ही वसन जिनका ऐसा अर्थ होता है। किम्बा सम्यक् रूप से कामरस रूप जो अमृत है तद्विशिष्ट हैं। अतः संवीत शब्द का प्रयोग है। यहाँ पूर्वोक्त प्रदेश में ऐसा जानना। वहाँ वीत अर्थात् विगत हो गया है पीतवसन जिनका यह अर्थ है। यहाँ पर कर्मधारय समास भी सिद्ध है। पीतवसन के द्वारा श्रीकृष्ण वेष्टित ऐसा जानना। किम्बा गोपियों के द्वारा श्रीकृष्ण वेष्टित हैं ऐसा अर्थ है। इस रीति से गोपीजनों से और पीतवसन से जो संवीत हैं वे श्रीकृष्ण। किम्बा सम्यक् प्रकार से वीत अर्थात् त्यक्त किया है

गृहादिक जिन्होंने, संध्या के समय गोपियों का गृहत्याग उचित था। तात्पर्य त्यक्त गृहादिक जो गोपियाँ उनमें पीतवसन जिन का अर्थात् मिलन समय में श्रीकृष्ण का पीतवसन गोपियों के शरीर में लग्न है। निष्कर्ष यह है कि—रात्रि जागरण के समय रतिक्रम के द्वारा असावधानी के कारण प्रातः उठने के समय श्रीकृष्ण के वस्त्र गोपियों में और उनके श्रीकृष्ण में विपर्यास रूप से रह गया था। जिस समय श्रीकृष्ण पहले विविध रीति से गोपियों में परमरस का प्राकट्य करते हैं उस समय उस रस के स्वभाव से एवं रसाधिक्य से स्त्रियों का भी उस प्रकार रस होता है। किम्बा सम्यक् प्रकार से वीत अर्थात् परित्यक्त है रतिसमय में पीतवसन जिनके द्वारा वे श्रीकृष्ण।

रसनाविलसत्कटिः—पहले महामणि हीरक आदि से जटिता और सुवर्ण के सूतों से गूंथी हुई बदरी (वेर) की भाँति मुक्ताफल बीच में जिनके, मानो रतिपति-जयघंटिका शृङ्खला रूप से बंधी हुई है उसमें घूंघरू भी लगे हुए हैं ऐसो जो स्वर्णमयी रसना (क्षुद्रघंटिका) है उसके द्वारा विशेष रूप से शोभायमान कटि जिनकी वे श्रीकृष्ण। अन्य प्रकार से गोपियों की कनकरसना के द्वारा शोभायमान कटिवाले। "विलसत्कटिः" यहाँ पर वि शब्द का अर्थ यह है कि सहज सुन्दर मेघकांति वाली कटि मे विविध रंग की मणिआदियों से अधिक शोभायमान।

किम्बा वि पद के द्वारा पक्षी कहे जाते हैं, उनको निजस्वन के सजातीय रूप से समान धर्मा होने के कारण लाति अर्थात् ग्रहण करता है ऐसे जो ला। यहाँ पर रसन पद के साथ कर्मधारय समास का अभिप्राय है। अर्थात् उस प्रकार शोभायमाना रसना विलास करती है जिनके द्वारा इस प्रकार की कटि जिनकी। तात्पर्य-कटि में जो शोभा है वह रसना के द्वारा नहीं है, वह शोभा

सहज ही सुन्दर है । वस्तुत: कटि के द्वारा प्राप्त जो शोभा है वह रसना में विद्यमान है ।

किम्बा गोपियों की रसनाओं में वह कटि जिनकी। ऐसी श्री-कृष्ण की कटि के द्वारा गोपियों की रसनावली सुशोभित है । अथवा श्रीकृष्ण के नृत्य का स्मरण करती हुई श्रीराधिका ने इस प्रकार कहा है । अत: भ्रमरिका शब्द के ग्रहण के द्वारा अधिक चाक् चक्य के कारण शोभा विशेष कही गई है । उस समय श्री-कृष्ण की कटि चलायमान थी ॥१८॥

इस प्रकार कटि का वर्णन करती हुई श्रीराधिका कटि के निम्नदेश में स्थित पीताम्बर का वर्णन करती है—अन्तरीयघटी-बन्धप्रपदान्दोलिताञ्चल: ।

"अन्तरीय-उपसंव्यान-परिधान-अधोंशुक" इत्यादि कोस से अन्तरीयपद कटिस्थित पीताम्बर परक है। उस की किनारी बन्धी हुई है, उस से चरणाग्र में अञ्चल (आंचल) आन्दोलित हो रहा है जिसका यह अर्थ है । कटिस्थित पीताम्बर उक्ति के द्वारा वहाँ स्थिति की अन्यथानुपत्ति से बन्धनप्राप्ति में भी बन्धनिरूपण है, उस से नृत्य के समय कमलादि-आकार से बँध जाता है उस प्रकार बन्धन का यहाँ कथन है । अत: चञ्चलायमान उस का चरणाग्र में आन्दोलन होता है। आन्दोलनबचन से मधुरनृत्य ज्ञात हो रहा है। अथवा घटीबन्ध-पद बन्धन प्रकार का विशेष वाचक है। अन्तरीय के घटीबन्धन में बन्धन-प्रकार विशेषण से-चरण प्रान्त में आन्दो-लित अञ्चलभाग जिस का अर्थ है ।

अथवा—घटीपद से गोपनीय कहा जाता है । अर्थ यह है—परस्पर में शृङ्गारादि तथा रह:कथा करने वाली सब के उपविष्ट होने पर उन के बीच में श्रीकृष्ण नीव्यादि परिधान से उन का वेश कर ऊपर स्थूल वस्त्र से वदन-कमल को ढक कर अपने शिक्षित कुछ

सखियों के मध्य में हो कर "वे सब जिस प्रकार नहीं जानेंगीं" उस प्रकार धीरे धीरे मधुरगति से कौतुकार्थ उपस्थित हुए उस समय अञ्चल को देख कर उस का स्मरण कर ऐसा कहती है—अन्तरीय के ऊपर जो घटी अर्थात् नीवि है उस के बंध जाने पर पादपर्य्यन्त आन्दोलित अर्थात् दोलायमान अञ्चल जिन में।

अथवा—रहस्यस्थल में कभी श्रीकृष्ण व राधिका परस्पर आलिङ्गन प्राप्त कर रहे थे। उस समय श्रीकृष्ण के अन्तरीय पर राधा की नीवी संसर्गित हुई। उस का स्मरण कर "अञ्चल आन्दोलित जिन का" इस प्रकार कहने लगीं। इस प्रकार के सुखदायी वे अब ऐसा क्यों नहीं हैं। अथवा—अन्तरीय स्थान में जो घटी उस का जो बन्ध उस से चरण पर्य्यन्त दोलायमान अञ्चल जिन के। रात्रिजागरण आलस्य से काम-समर विजय जात श्रम के हेतु अनवधान हुए थे, उन के नयन घूर्णायमान थे। वे अपने पीताम्बर का त्याग कर गोपीवसन से अपने को वेष्टित कर गमन करने लगे। उस समय अञ्चल उस प्रकार हुआ था उस का स्मरण कर ऐसा कहने लगीं।

अथवा इस पद में दो नाम हैं। पादान्त में विसर्ग देने पर "अन्तरीयघटीबन्धः, प्रमदान्दोलिताञ्चलः" दो नाम होते हैं। अन्तरीयघटी अर्थात् गोपिका की अन्तरीयघटी में बन्ध अर्थात् करतलबन्ध जिन का। यह प्रथम समागम में अथवा लज्जित अवस्था में अन्तर में आर्त्ता अथवा मिथ्यामान के कारण नति का अनङ्गीकार करने वाली के निर्बन्धकरण में है।

जिस प्रकार उस समय अपने में निर्बन्ध-करण किया अब उस प्रकार इस विषय में ऐसा करें यह भावार्थ है। अथवा अञ्चलपद से गोपिकाअञ्चल है। जिस समय श्रीकृष्ण रहस्यस्थल पर आते हैं तथा गोपिकाएं कुंकुमादिसुगन्ध द्रव्य जलों से चरण कमल का

प्रक्षालन कर अपने अञ्चल से पोंछती उस समय श्रीकृष्ण के चरणों में उन का अञ्चल आन्दोलित होता है, उस का स्मरण कर कहती है, अब ऐसा करो यह अभिप्राय जानना ॥१९॥

आगे उरु-जानु आदि समय विशेष में प्राकट्य होंगे, वे सब पीताम्बर से ढके हुए हैं। अतः वे समस्त गोपनीय हैं ऐसा जान कर उन अंगों को न कह कर चरण-कमल का ही वर्णन करती हैं, अथवा वर्त्तमान उन अंगों के अवधान का अभाव है। पीताम्बर-प्रसङ्ग से ही चरणस्मरण के उत्पन्न होने पर तत्सम्बन्धि चरणारविन्द का पहले स्मरण कर वर्णन करती हैं—

अरबिन्द इत्यादि दो श्लोकों से—

अरबिन्दरूप पदयुगल में कलक्वणित अर्थात् अव्यक्त मधुर रूप से शब्दायमान नूपुर समूह जिन के वे। अरबिन्द पद से तापहारकत्व-सरसत्व-गोपीकुचकोकसहचरत्व सूचित हो रहे हैं। विरहतपन-उद्भव में इन का प्राकट्य है ऐसा ज्ञात हो रहा है। कमल की जिस प्रकार सरस देश में उत्पत्ति है उस प्रकार इस का रसन से सरस हृदय विषय का प्राकट्य सूचित हो रहा है। जिस प्रकार कमल के भीतर केवल जलमात्र नहीं है अपि तु मकरन्द है उस प्रकार बन्ध्वादि को हृदयादि पर स्थापन में रस उत्पन्न होता है। यह रस ज्ञानविषयक आनन्दसामान्य परक नहीं है। इसलिये उसका यहाँ अविषयत्व माना गया है। यह रस ज्ञान से अत्यन्त उत्तम है। ज्ञानियों की अद्वैतदृष्टि होती है। इसी लिये यहाँ द्वन्द्वत्व (द्वैत) का कथन है। और भी कहते हैं—विकसित-कमल से मकरन्द की प्राप्ति होती तथा कमल का विकास सूर्य्यकिरण से होता है। यहाँ विरहताप मौजूद है। ज्ञानियों को उस का अभाव है अतः वे इस से वञ्चित रहते हैं। ताप के रहने पर कमलादि का अन्वेषण किया जाता है। ज्ञानियों में उस का अभाव कहा गया है अतः उन का

यहाँ उपयोग नहीं है । अतः गोपियों के हृदय में चरण-कमल का विकासत्व एवं रसदातृत्व है यह भाव सर्वस्व है । गोपीकुचकुङ्कम यहाँ पराग है, ध्वज-बज्रादि केशर है ।

गोपियों ने "पूर्णाः पुलिन्द्य" इस श्लोक में उस प्रकार कुङ्कुम के तापहारित्व कहा है। मकरन्द सम्बलित पराग की उस प्रकार स्थिति होती है । यहाँ "दयितस्तनमण्डितेन" इस पद से पूर्वकथित सम्बलितत्व का सूचित है। अतः उस के दर्शनमात्र से स्मररुज की उत्पत्ति एवं लिम्पन से उस का अभाव है । अब इस का विस्तार बृथा है । वास्तविक तथ्य की व्याखा करतें हैं। नूपुर समूह कनक-हीरक-इन्द्रनीलमणि से परिष्कृत हैं, उन के चार ओर मुक्तागुच्छ-समूह लम्बायमान रूप से विद्यमान हैं, उस के आगे चरण में रचित विविध सूक्षपुष्प हैं। वे नूपुर इषत् चलन के समय भ्रमरों की भाँति अव्यक्त मधुर शब्द करते हैं । उस का स्मरण कर—"अरबिन्द-पदद्वन्द्वकलक्वणितनूपुरः" ऐसा वर्णन करने लगीं । अथवा अर-बिन्दों में अर्थात् गोपियों के हृदयकमलों में, अथवा संलालनादि समय में करकमलों में श्रीकृष्ण के जो चरण युगल उन में कल-क्वणित नूपुर जिन के । समय विशेष का स्मरण कर ऐसा कहा गया है। अथवा—अरबिन्दों का स्थान यमुनापुलिन में श्रीकृष्ण एवं गोपियाँ दोनों के रास में कलक्वणित नूपुर जहाँ, वहाँ नृत्य का स्मरण कर ऐसा कहती हैं। इस से चरण का उपरिभाग वर्णित हुआ। यद्यपि क्रम प्राप्त के कारण पहले नखवर्णन उचित था तो भी त्रिभङ्ग का स्मरण कर तलदेश का वर्णन है । पहले-दक्षिण चरणतल का दर्शन हुआ, पश्चात् नखों का दर्शन होगा अतः चरण-तल का पहले वर्णन है ।

अथवा—पहले कभी विरह सन्तप्त हृदया उसने रहस्यस्थल में उपविष्ट श्रीकृष्ण के चरणतल को देख कर परम आर्त्ति से निज

हृदय में स्थापन किया था। उस से ताप का अपगम होने पर अपनी अञ्जलि में चरण धारण कर पहले तल पीछे नखों का दर्शन करने लगीं पुनः अपने पूर्वानुभूत अभिलषित तल का दर्शन हुआ। "अभी उस प्रकार सन्ताप है" ऐसी भावना कर चरण स्मरणमात्र से उसी का ही स्मरण कर अपने मनोरथ करती हुई नखों को भूलकर तल का ही वर्णन करने लगी। तदनन्तर नखों का पुनः चरणतल का वर्णन कर रही है। इसी लिये पुनः "अम्बुज" शब्द का प्रयोग है।

बन्धूकारुणमाधुर्य्यसुकुमारपदाम्बुज—बन्धूक रक्तपुष्प विशेष है। उस से भी अधिक अरुण, माधुर्य्य एवं सुकुमार विशिष्ट है। यहाँ कर्म्मधारय समास है। इस प्रकार पदाम्बुज जिस का ऐसा अर्थ है। अथवा बन्धूकारुण पद से कुङ्कुम कहा जाता है उस से माधुर्य्य-सौन्दर्य्य जिन के, गोपीहृदय उन में परम सुकुमारता है, जो कि कमलाकर स्पर्श से म्लान को प्राप्त हो जाता है। अथवा जिस से मार अर्थात् कामदेव अत्यन्त कुत्सित हो जाता है, "सुकुमार" शब्द का यह अर्थ है। अतिकठिन उन में उस प्रकार सुकुमार-चरणाम्बुज का प्रदान करते हैं वह तो केवल गोपियों के लिये है जो कि अपने क्लेश को नहीं देखती हैं। श्लेष में-अरुण अर्थात् सूर्य्य से कमल का जिस प्रकार संश्लेष है।

नखचन्द्रजिताशेषदर्पणेन्दुमणिप्रभः—नख रूप एक ही चन्द्र के द्वारा अशेष दर्पण-इन्दु-मणियों की प्रभा को जिस ने तुच्छीकृत किया है वह। निर्मलता-चाकचक्यता-तापहारकत्व-मण्डलाकारत्वादि गुणों से किसी भी अंश में न्यून नहीं है इसी लिये दर्पणादि तीन पदार्थ का ग्रहण है। एक से साम्याभाव हो सकता है अथवा दो वस्तु से साम्याभाव है परन्तु बहु वस्तु से साम्यता हो सकती है इस प्रकार शंका निरासार्थ अशेष पद का प्रयोग है। उससे साम्यता

की असम्भावना पर्य्यवसान में आ जाती है। दर्पण जय उक्ति के द्वारा निज अधरशोणिमा का प्रतिविम्बित होना सूचित होता है। दर्पण में ऐसा नहीं है। अतः भागवत में "उत्तुङ्गरक्त" इस प्रकार नख का विशेषण है। यहाँ प्रतिविम्बित वस्तु विम्ब से भी कोटि-गुण सुन्दर है ऐसा सूचित हो रहा है। दर्पण में ऐसा नहीं है। इन्दुजय उक्ति के द्वारा निर्म्मलत्व, निरन्तर अखण्डत्व, सूर्य्य-प्रभादि से अनभिभाव्यत्वादि सूचित होता है। चन्द्रमा में उस का अभाव है। मणिजय उक्ति के द्वारा अतिकोमल-देशप्रभवत्व, अति-शय भाग्यवान के हृदयभूषणत्व भीतर बाहिर सूचित होता है। उस में उनका अभाव है। दर्पणादि स्वयं अप्रयोजक हैं, वे सब प्रभा के द्वारा ही दूसरे के प्रयोजक होते हैं। अतः यहाँ सारभूतप्रभा से प्रभाजय की उक्ति है। चाकचक्य से दर्पण की, शैत्यता में चन्द्रमा की तथा लौहित्य में मणि की उपमा नहीं दी जा सकती है इसी लिये दर्पणादि तीनों का कथन है। अतः श्रीकृष्ण के चरण-सौन्दर्य्य वचनों के द्वारा अकथनीय है, इसी लिये जय उक्ति दी गई, परन्तु वे सब इस प्रकार नहीं हैं। अथवा—नखचन्द्र से वशी-कृत राधा की शेषभूता अर्थात् वे सब अवशेष रह गये। पहले विरहताप से उस प्रकार थीं, पीछे भगवत् संग में तादृश शोभा हुई। अतः नखों का चन्द्रत्व रूप में निरूपण है। अथवा—नखों से अर्थात् चन्द्रवत् शीतल तापहारि दर्शनों से रतिरण में जो जीतीं है वह। उस से और समस्त तुच्छ हुए। त्रिभङ्गपक्ष व द्वितीयपक्ष में ताप-गमानान्तर अब चरणकमल का हस्त मे धारण कर उस के सौन्दर्यादि से अभिनिविष्ट चित्त होकर चार ओर दर्शन करने लगीं। पहले उपरिस्थित नखदशन, पश्चात् तलस्थ रेखा दर्शन कर पहले नख पीछे रेखा का दर्शन करती हैं। भगवद् के द्वारा रस प्राप्त राधा प्रातः उस शोभा का वर्णन करती हैं। इस प्रकार नखों

का वर्णन कर अब चरणतल स्थित रेखाओं का वर्णन करती हैं-ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजराजच्चरणपल्लवः—निर्भयता स्थिति के लिये ध्वजस्थापन है. विरह में हृदयरोध रूप महापर्वत के विदारणार्थ वज्रस्थापन है, "व्रजनाथमहारस" से मदमत्त गोपीमनोरूप गज के मान अपनोदनार्थ अङ्कुशस्थापन तथा विरहताप का अपनोदनार्थ अम्भोजस्थापन है। विद्यमान उन ध्वज-वज्र-अङ्कुश-कमलादि से शोभायमान चरणपल्लव जिन के। इन कार्य्यों के लिये कृपा कीजिये ऐसा भाव है। आम्रादि के नवीन अङ्कुर पल्लव है। चरणों में उस का निरूपण इसी लिये कि—वह जिस प्रकार सरस वसन्त में प्रादुर्भूत होता है एवं नूतनकामजनक, रसपोषक, अति-कोमल स्पर्शवाला, तापहारक एवं रतिशय्या के उपयोगी माना-जाता है उस प्रकार उस रस से गोपियों के सरस हृदय में प्रादुर्भूत होते हैं। यहाँ कामजनकत्वादि उसी प्रकार सूचित होते हैं। उन में नित्यनूतनत्व मौजूद रहता है। अथवा—इस प्रकार चरण में पल्लव समूह जिन के। जब विरहसन्ताप से अपने हृदय में पल्लवों की स्थापना की उस समय श्रीकृष्ण के आने पर उन्हों ने अति-विह्वलित हो शीघ्र ताप दूर के लिये पल्लवों के साथ हृदय में अर्थात् पल्लवों से युक्त हृदय में चरण का स्थापन कराया। उससे सन्ताप दूर हुआ। उस का स्मरण कर अभी उस प्रकार कीजिये इस अभिप्राय से कहने लगीं ॥२०. १। २.

इस प्रकार प्रत्येक अवयव वर्णन से भी ताप का अपगम न होने पर वह अति दुःखिता होकर "जिन का एक बार संग से इस प्रकार दुःख प्राप्त है वे क्यों ढूढे जावेंगे अर्थात् उन का अनुसन्धान क्यों किया जावे" इस प्रकार शंका त्याग कर स्वरूप में अभि-निविष्ट चित्त होकर समग्र स्वरूप का वर्णन करती हैं—

त्रैलोक्याद्भुतसौन्दर्य्यपरिपाकमनोहरः—

त्रिलोक में अद्भुत अर्थात् असम्भावित गोपियों के सौन्दर्य्य का परिपाक अर्थात् विरहताप से अधरशोषलक्षण उस में मनोहर । विरह से मन अत्यन्त क्लेश युक्त हो जाता है । इच्छा होती है कि मन को निवर्त्तित करूँ परन्तु वह निवर्त्तित नहीं होता है, क्योंकि मन का हरण हो जाता है उसमें धर्म्म का अभाव रहता है । विषय का भी ऐसा ही स्वभाव होता है । गीतगोविन्द में जयदेव ने कहा है—"गुणसमूह की गणना नहीं करती" "सखीसंवास को शत्रु की भाँति देखती" इत्यादि । अथवा—त्रैलोक्य में अद्भुत सौन्दर्य्य जिन के उस प्रकार की गोपियों के परिपाक में अर्थात् फलपर्य्यवसान में मन का हरण किया है जिस ने वह ; अथवा—गोपियों के तादृश सौन्दर्य्य परिपाक में अर्थात् सम्यक् निष्पत्ति में मन का हरण करने वाले । प्रातःकाल से आरम्भ कर सन्ध्या-पर्य्यन्त पुष्पशय्या--मालारचना--अङ्गमर्द्दन-स्नान-नानाप्रकार नीवीपरिधान-केशप्रसाधन-सुगन्धद्रब्यलेपन-तिलक-अञ्जन रचना से सर्वाङ्गसौन्दर्य्य सम्पन्न होने पर सन्ध्या समय श्रीकृष्ण आकर मन हरण करते हैं इस का स्मरण कर कहने लगीं । "असमर्पित परकीय वस्तु का बलपूर्वक ग्रहण हरण है ।" श्रीकृष्ण में विविध मनोहरत्व निरूपण के द्वारा "जब असमर्पित वस्तु का ग्रहण करते हैं तो हम सब के समर्पित मन का ग्रहण करेंगे इस में आश्चर्य्य क्या है" यह भाव सूचित होता है ॥२१॥

इस प्रकार सन्ध्याकालीन उन का स्वरूप कह कर उस के बाद क्रम से रहस्य प्राप्त उन का स्वरूप वर्णन करती हैं—"साक्षात्केलि-कलामूर्त्तिः" इत्यादि पदों से । केलि अर्थात् कामकेलि वह कला-स्वरूप, उस की मूर्त्ति । वे चौषठ कलाओं में से अन्यकलाओं के ज्ञाता हैं, परन्तु कामकेलिकला के मूर्त्तिस्वरूप हैं यह भावार्थ है । जिस

प्रकार दुर्गादि-अंग समानाकार के कारण सुवर्णमयी मूर्त्ति भी दुर्गा की मूर्त्ति मानी जाती है ऐसा प्रसिद्ध है उस प्रकार केलिकला के यत्किञ्चित् धर्म्मवत्त्व के कारण श्रीकृष्ण में मूर्त्तित्व प्रतिपादित हो सकता है इस प्रकार शका-निरासार्थ साक्षात्पद का प्रयोग है। जिस प्रकार दिव्यमय दुर्गाशरीर में मूर्त्तिव्यवहार देवताओं का है उसी प्रकार श्रीकृष्ण की केलिकला में मूर्त्तिव्यवहार हम सब का है । कलात्व निरूपण के द्वारा सुरत में विचित्रत्व द्योतित होता है। श्रीकृष्ण के प्रत्येक अङ्गो में दर्शनमात्र से सुरतेच्छा उत्पन्नत्व की आवश्यकता के कारण, सुरत में विविध बन्ध कुशलत्व के कारण यह मूर्त्तित्व रूप में निरूपित है । अथवा "साक्षात्" इस अव्यय का प्रत्यक्षत्व अर्थ है ! प्रत्यक्षा अर्थात् प्रत्यक्षीभूता केलिकलाओं की मूर्ति अर्थात् स्वरूप जिन के वे । दर्शन मात्र से सुन्दरत्वरूप में ज्ञान है परन्तु पूर्वोक्त समय में रसिकशिरोमणित्वादि ज्ञान नहीं ऐसा भावार्थ । अथवा केलिकलाओं में यहाँ निमित्त सप्तमी है। इस प्रकार रति-सामयिक प्रिय का वर्णन कर उस समय उस रस-पोषक रसान्तरकरण का उल्लेख करती हैं—"परिहासरसार्णवः" इति पद से । परिहास पद से हासजनक बचन समूह कहा जाता है। उन हासजनक बचनों में जो रस है अथवा रसरूपत्व है उस के अर्णव स्वरूप ऐसा अर्थ है। जब श्रीकृष्ण नर्म्मबचनों को कहते हैं उस समय एक ही बचन में जो रस है उसमें गोपियाँ निमग्ना हो जाती हैं, जब श्राकृष्ण दूसरे बचन बोलते हैं तव वे पूर्वरस का पार नहीं पाती हैं, पूव बचन रससागर से अधिक तरङ्गायमान दूसरे रससमुद्र में अधिक रूप से गिर जाती हैं । इस प्रकार उत्तरोत्तर बचनरूप रससमुद्रों में निपतित हो जाती हैं ऐसा हाद है । अतः रस का ही प्राधान्य है बचनों का नहीं इस के ज्ञापनार्थ रस पद का प्रयोग है। बचन के वहुत्व होने पर तथा रस के अल्पत्व में रस

का अभाव हो जाता है । इसी लिये नयन-भ्रुवादिग्रों से भी हास्यरस को उत्पत्ति होती है। और भी कहते हैं—रसिकसिद्धान्त में शृङ्गार हो रस है, वीरादि उसके पोषक रूप होते हैं । जैसा कि महाराज के समस्त उपकरण सुवर्णमय होता है । अन्यों का तुच्छ रूप के कारण धातु रूप नहीं माना जाता है । रस पद से शृङ्गार रस ही माना जावेगा तथा वीरादि उस के पोषकरूप माने जावेंगे । नहीं तो इस शृङ्गाररस में रसान्तर का समावेश व उल्लेख रसाभास जनकत्व हो जावेगा। रति स्थायि में वीरादि रस विमर्द्दित हो जाते हैं । गीतगोविन्द में जयदेवचरण ने इसी आशय को लेकर "केशिमथनमुदारं" "मधुसूदनमुदिनमनोजम्" इत्यादि वीररसव्यञ्जक शब्दों का प्रयोग किया है । वहाँ "रतिरण" शब्द का प्रयोग भी है। अथवा- गोपियों के द्वारा कृत जो नर्मरस वह अर्णवरूप जिस के । जब कि श्रीकृष्ण तथा गोपियाँ परस्पर में नर्म्मबचन कहती हैं उस समय श्रीकृष्ण नर्म परिहास से उन को जीतने में असमर्थ हो जाते हैं। यह रसिकपरिपाटी है, इस में कोई दोष नहीं है। स्वजन की अपेक्षा से रस भी महान् हो जाता है । पहले तो गोपियों ने श्रीकृष्ण में बृन्दावनचन्द्रत्व का आरोपण किया था अब परिहासरस के अर्णवत्व रूप में निरूपण किया जा रहा है अतः इस से रस की प्रतिक्षण बृद्धि सूचित हो रही है। अथवा—उस विषय में अर्णवरूप ऐसा अर्थ है।

पूर्वोक्त अर्थ से इस का वैपरीत्य जानना । अथवा-जिस समय "मैं सन्ध्या में आऊँगा" ऐसा कह कर नहीं आये, अतः प्रातःकाल में आने लगे उस समय राधिका मानिनी हो गईं, वे नर्म बचनों से उस प्रकार करने लगे, उस रस में निमग्ना होकर पूर्वदुःख तथा मानादि भूल कर "अन्य किसी रमणी में अनुरक्त हो सकते हैं" इस प्रकार स्मरण कर कहने लगीं।

इस नर्मरस में अर्णवत्व का निरूपण है उन की प्रकटित दन्तावली मणि रूप से अभिप्रेत है । इस प्रकार तापापगमार्थ हास्ययुत रमण कर्त्ता का निरूपण किया गया है । इस के बाद असञ्जात कामपूर्त्ति वाले श्रीकृष्ण उस प्रकार की राधा को हाथ में धारण कर विशेष क्रीड़ा के लिये यमुनातीरस्थ निकुञ्ज में लाये । वहाँ उन के साथ क्रीड़ा की इस का स्मरण कर कहने लगीं—यमुनोपवनश्रेणीविहारी इस पद से । यमुना सम्बन्धि उपवनों की श्रेणियों में विहारी अर्थात् क्रीड़ाकारक ऐसा अर्थ है । जल-स्थल भेद से क्रीड़ा दो प्रकार हैं । पहले केवल स्थल-सम्बन्धिनी लीला कही गई है । अब दोनों प्रकार की लीला कही जा रही हैं । अतः यमुना में तथा उस के उपवनों में यह लीला-समूह सूचित हो रहा है । प्रतिबृक्ष में रमण ज्ञापनार्थ श्रेणी पद दिया गया है । विहार शब्द का तात्पर्य्य यथेच्छ मर्य्यादारहित लीला है । अतः चलते, ठहरते, सोते, वैठते लीला का सुचित है । अथवा—यमुना के समीप जो वन है उस में जो गोपियों की श्रेणियाँ हैं उन में विहारी । अथवा—पूर्व कथित वेः अर्थात् काल के हर्त्ता । भगवत्संग में वे सम्पूर्ण रात्रियाँ अर्द्धक्षण की भाँति ब्यतीत होती हैं, पुनः संगाभाव से युग की भाँति प्रतीत होने लगती हैं । वस्तुतः वे रात्रियाँ महान् हैं भगवत्संग में उन का अल्पत्व हो जाता है । भगवान् उन की महानता को दूर कर देते हैं, उन की बुद्धि ऐसी हो जाती है । अच्छा ? इस प्रकार स्वच्छन्दलीला करने में ब्रजस्थ जन क्यों नहीं जानते ? तो कहते हैं—समस्त ब्रज में ही श्रीकृष्ण नागर हैं, चतुर शिरोमणि हैं । इस प्रकार स्वच्छन्द लीलाऐं करते हैं कि जिन का कोई लक्ष नहीं करने पाता है । जानने पर उस प्रकार रस नहीं होता है । भागवत में "नासूयन्खलु कृष्णाय" इस श्लोक में निरूपण किया गया है । इस से दिवस में भी उन के साथ श्री-

कृष्ण क्रीड़ा करते हैं, अतः उन के परमभाग्यवतित्व सूचित होता है। अथवा—व्रजपद से व्रजस्थ गोपियाँ कही जाती हैं। उन के साथ कामलीला में बन्धादिओं से अतिचतुर अन्यत्र मुग्ध ऐसा अर्थ है। अथवा—पूर्व की भाँति अन्य किसी के साथ यमुनोपबन के प्रतिबृक्ष में बिहार करते हुए जब श्रीकृष्ण व्रज से दूर देश में चले जावेंगे तो वर्त्तमान की भाँति किस प्रकार उन की प्राप्ति हो सकती इस भाव को लेकर कहती हैं—"व्रजनागर" इस पद से। व्रजनगर सम्बन्धि ही वे श्रीकृष्ण। अतः वे अन्यत्र नहीं जावेंगे ऐसा भावार्थ ॥२२॥

तव तो वे मिलेंगे, क्यों इस प्रकार दुःखी हो रही हो इस पर कहती हैं—"गोपाङ्गनाजनासक्तो" इस पद से। गोपसम्बन्धिनी जो दास्य परायण अङ्गना-जन हैं उन में आसक्त है। ऐसा अर्थ है। उन का त्याग कर कैसे मेरे निकट आवेंगे यह भाव है। यदि कहो कि "तुम भी गोपाङ्गना हो, उन के समान हो, वरं उन से अधिक दास्यता रखती हो, वे केवल उन में आसक्त हैं आप में क्यों नहीं" सुनो इस प्रकार शंका जन इस पद से निवारित हो रही है। वे सब दासीभाव प्राप्त निरभिमानिनी हैं, इसी लिये वे उन में आसक्त हैं। परन्तु मेरे नायिका-रस मद से मान उत्पन्न के कारण उस प्रकार नहीं है। "अच्छा ! वर्त्तमान में आप भी ऐसी हो, वे शीघ्र ही आवेंगे, दुःख मत कीजिये"। इसका भी समाधान (शका परिहार) होता है। वे गोपियाँ बहुत हैं, रस की आधिक्यता से पुरुषभाव प्राप्त हुई हैं। "रसाधिक्य से स्त्री पुंभाव प्राप्त होती है" ऐसा वात्स्यायन का कहना है। अतः यदि कभी श्रीकृष्ण आवेंगे तो वे उन्हें जाने नहीं देंगीं। श्रीकृष्ण भी वशवर्त्ती होकर उन का अतिक्रमण कर नहीं जावेंगे ऐसा जन पद प्रयोग का भावार्थ है। आसक्तजन स्वयं त्याग कर चले जाने में असमर्थ होता है। उन के साथ आगमन पक्ष में

पूर्वोक्त दूषण आ जाता है । वे अपने पत्यादि का परित्याग कर दासीभाव प्राप्त हुई हैं। इस का कारण आसक्ति है, उस का ज्ञापनार्थ गोपसम्बन्ध होना बतलाया गया है । सर्वथा अनासक्ति में महान् कष्ट है । "कहीं पर वे यदि आसक्त हैं तो कभी मुझ में भी आसक्त होंगे" इस प्रकार आशालता अवलम्बन–कारी आसक्ति-कदम्ब का निरूपण किया जाता है । इस प्रकार राधिका के कहे जाने पर पुन: "वे जिस प्रकार क्यों न हों मैं किसी प्रकार से उनको बुला कर लाती हूँ तुम कहो वे कहाँ हैं।" इस प्रकार सखी से कहे जाने पर उस का निर्देश देती हुई श्रीराधिका कहने लगीं—"बृन्दारण्यपुरन्दर:" इस पद से।

वे बृन्दावन के पुरन्दर अर्थात् इन्द्र हैं । इन्द्र ही स्वामी होता है। उस की सर्वत्र प्रसिद्धि है । मैं इस पर क्या कह सकती हूँ, बृन्दावन जाकर तुम जान सकती हो ऐसा भाव है । बृन्दावन शब्द से स्थल का निर्देश है। इस प्रकार निर्देश उस का चतुराई से है । जिस प्रकार इन्द्र त्रिलोक के स्वामी है, देवलोक तथा अपने लोक में भी उस का आधिपत्य है, वहाँ की अङ्गनाओं के द्वारा सेवित होकर विराजमान रहता है उसी प्रकार श्रीकृष्ण कोटिब्रह्माण्डाधिपति होकर भी गोकुल में, उस पर बृन्दावन में, उस पर स्त्री-प्रधान अपने लोक में गोपियों के साथ क्रीड़ा करते हैं ऐसा हृद्गत भाव है। देवलोक में दु:ख नहीं है, उस में फिर इन्द्र का अधिष्ठान स्थल पर । अत: मेरा दु:ख अनुचित है यहाँ दर्शनादि प्रदान से दु:ख को दूर करेंगे ऐसा भाव है । यदि कहो कि आप का इस सिद्धान्त से "दु:खाभाव" व्यक्त होता है तो सुन, सत्य कहती हो, वह तो लौकिक–वैदिक व्यवस्था है । अर्थात् लोक व वेद में इस प्रकार की व्यवस्था की जाती है। स्वर्ग में पुण्योपार्जित–शरीर की स्थिति है । इसी लिये वहाँ सुख की उपलब्धि है दु:ख की नहीं ।

उस का साधन पापोपार्जन का अभाव होना चाहिये । परन्तु यहाँ पर "क्षीण पाप-वाले नरों की श्रीकृष्ण में भक्ति उत्पन्न होती है" इस वचन से पापमात्र के अभाव से भगवद्भक्तिलाभा होता है। यह हमारा दुःख पापकृत नहीं है। पापजनक दुःख-साधन में "उपाधि" मानीं जाती है । इस प्रकार सुख भी उपाधि युक्त है । परन्तु इस अलौकिकतार प्रमेयमार्ग में "सुख-दुःख" श्रीकृष्ण के संगम व विरह से होता है। दशमस्कन्ध में "अन्तर्गृहगता" इस प्रस्ताव में श्रीकृष्ण के संगम व विरहजात "सुख-दुःख" कर्म्म-जन्यत्व नहीं है ऐसा निरूपण किया गया है। भागवत के "आसामहो चरणरेणु-जुषाम्" "स्वजनमार्यपथ च हित्वा" इन पदों से विशेष निरूपित हुआ है। इसी लिये गुल्म-लतादि जन्म-प्रार्थना की गई है।

अच्छा ! इस प्रकार अनुसन्धान में उस महान विरह में प्राण-स्थिति किस प्रकार होगी तो कहती हैं—"आभीरनागरीप्राण-नायकः" इस पद से—

आभीर सम्बन्धि जो गोकुलनगर है तत् सम्बन्धिनी अतिचतुर जो रमणियाँ है उन के प्राणों के नायक (रक्षक) हैं । यह मेरी प्राणस्थिति उन की इच्छा से है, परन्तु मेरे प्रयत्न से नहीं। समस्त गोकुलवासियों के वे तो राजा के समान नियामक हैं परन्तु हमारे प्राणों के नियामक हैं, इस से अपने उत्कर्ष अन्तरङ्गत्व सूचित होता है। अथवा वह रोष-दैन्यता से कहती हैं—"आभीरनागरीप्राण-नायकः" । इस से जो प्राणहर्त्ता है वह किस प्रकार प्राणस्थिति-साधन रूप संग कर सकता है यह भाव सूचित है इसी लिये नाग-रीत्व का कथन है। लोक में चतुरव्यक्ति के द्वारा रक्षित वस्तु नहीं दीखने में मिलती है । यहाँ उन नागरियों को तथा उन के अन्तः-स्थित प्राणों को भी ले लेना यह श्रीकृष्ण में चतुरता सूचित होती है । अत एव श्रीभागवत में "शरदुदाशये साधुजात" इस की

व्याख्या में-दुर्गस्थित जन कठिन हैं, उन में फिर जलदुर्गस्थ चोर कठिन (निपुण) हैं, उन में उत्तम प्रभंत्र वाले जन निपुण हैं, उन में फिर शीतादि उपद्रव रहित प्रकाशशील समय में स्थित जन परम निपुण हैं। इस प्रकार देश-काल-स्वरूपादियों से अशक्य चौर्य्य पुरुष की स्थिति है। तदुदरवर्त्ति सर्वस्व लेने वाले उन को हम सब साधारणगोपियों के प्राणहरण में क्या आश्चर्य्यता है ? अतः "शरत्कालीन जलाशय में साधु जात सत्सरसिज के उदर श्रीहारी नेत्र से" ऐसा व्रजगोपियों ने कहा है । अथवा—तुम ही उस वन में रहती हो, तुम में उस प्रकार क्यों नहीं होगा इस लिये कहती हैं—आभीरसम्बन्धिनी जो चतुरा हैं उन के ही प्राणरक्षक हैं, परन्तु मेरे समान अचतुर रमणियों के नहीं। वे क्यों मेरी प्राण-बाधा में आवेंगे। यहाँ राधिका स्वयं चतुरा होकर भी दुःख से दीन की भाँति इस प्रकार कह रही हैं। किम्बा पूवकथित प्राण भी वह हैं उस के नायक भी हैं ऐसा कर्म्मधारय समास सिद्ध है । अथवा—पूर्वकथित नाम निरूपण के द्वारा-वहाँ का पूर्वसंगम स्मरण से अत्यन्त प्राणबाधा उपस्थिति में शीघ्र आकर पालन करो, तुम ही मेरे प्राणरक्षक, अन्य कोई नहीं इस अभिप्राय से वह नाम कहा गया है । इस प्रकार अत्यन्त पीडा कहे जाने पर भी काम के द्वारा क्रम से अन्तिमावस्था शीघ्र ही होगी जिस से दुःख-निवृत्ति हो सकती, श्रीकृष्ण उसे नहीं करने देते हैं न मिलते हैं अतः यह रीति काम से भी लोकोत्तर है, तो कहती हैं—"काम-शेखर" इस पद से—काम के भी शेखरभूत हैं।

अलौकिक उनकी रीति ऐसा अर्थ है। अथवा—अच्छा ? आप सब अनङ्ग-सेना रूप हैं, आप सब की प्राणरक्षा तब तक अनङ्ग ही करेगा, तो उत्तर में कहती हैं-कामशेखर। काम के भी शेखर अर्थात् अत्यन्त उच्चस्थ नियामक हैं । अतः श्रीकृष्ण के द्वारा मैं

परिगृहीता हूँ परन्तु वशगा नहीं। अथवा—समस्त लोगों के शेखर-भूत काम है, वह सब की चक्षुराग (नयनप्रीति) से ले कर मरणान्त दशा को प्राप्त कराता है। श्रीकृष्ण उस के भी शेखर अर्थात् उस में भी उन दशाओं को प्राप्त कराते हैं। अथवा—प्रथमासक्तिकारण-भूत नाम को कहती हैं- कामशेखर। कोटिकन्दर्पलावण्य ऐसा अर्थ है। उस प्रकार सौन्दर्य्य से वशीकृत मनवाली मैं क्या करूँगी यह भावार्थ है। अथवा—काम कामना है जिस को मनोरथ कहते हैं, उस के शेखर अर्थात् अत्यन्त दूरस्थित, अविषय यह भावार्थ है। मनोरथ में असम्भावित वस्तु भासमान होती है, श्रीकृष्ण के सौन्दर्य्यानन्दादिक मनोरथ के विषय नहीं हैं क्यों कि वे अति अलौकिक हैं। भागवत में कहा है—"मनोरथान्तं ययुः" अर्थात् मनोरथ के अन्त प्राप्त हुईं। यहाँ बहुव्रीहि समास हैं। अथवा—काम तृतीयपुरुषार्थ है। जो काम क्रीड़ा रूप माना जाता है, उस में शेखर अर्थात् अतिविदग्ध हैं ॥२३॥

इस प्रकार स्थलक्रीड़ा का कह कर जलक्रीड़ा-स्मरण में जब कभी गृहकृत्य से अन्य कारण से वा भगवत्समीप में गमन नहीं हुआ उस समय-स्नानादि छल से, अथवा पर पार जाऊँगी इस छल से, सखाओं के साथ यमुनातीर में प्रिय वे नाविक बन कर पार करावेंगे, इस बहाने से उन का दर्शन-आश्लेषादि का लाभ होगा, मेरा विरह ताप दूर हो जावेगा इस प्रकार मनोरथ करती कहने लगीं—यमुनानाविक इत्यादि। नौका उपजीवी नाविक कहा जाता है। इस से गोपियों की भाँति श्रीकृष्ण की भी विरहावस्था सूचित होती है। यहाँ किसी घाटविशेष का उल्लेख नहीं किन्तु सामान्य-तया यमुना का उल्लेख है। उस से एकान्त स्थल में सकेत कर यमुना मात्र में विनोद के लिये वे नाविक बन रहे हैं ऐसा सूचित होता है। अथवा—पूर्वनामोक्त लीला स्मरण से जब अत्यन्त पीड़ा

हुई, तब किस प्रकार से इस दु:खसागर से पार हूँगी इस प्रकार चिन्ता कर उस की साधनीभूत नौका है अतः पूर्वानुभूत नौकासुख का स्मरण कर "तुम ही पार ले सकते हो अन्य कोई नहीं" इस अभिप्राय से नाविकत्व रूप में निरूपण करने लगीं।

पहले अकेली उनके साथ श्रीकृष्ण ने क्रीड़ा की थी ऐसा जान कर समस्त गोपियाँ उपस्थित हुई श्रीकृष्ण ने उन सब के साथ भी लीला की, इस का स्मरण कर अब कह रही हैं—"गोपीपारावार-कृतोद्यमः" इस नाम से। गोपी-सम्बन्धी जो पर पार एवं इस पार है उस विषय में किया है उद्यम जिन्होंने ऐसा अर्थ है। इस का रहस्य यह है कि—पहले जो समस्त गोपियाँ आई थीं उन में पहले आई हुई कुछ गोपियाँ श्रीकृष्ण के साथ गोपी सम्पर्क नहीं जानती थीं। "वे सब नहीं जानें" इस विचार से श्रीकृष्ण उन के हृदय जान कर पहले उन सब को पार के लिये उद्यममात्र हुए। बाद में यमुना-मध्य में लेकर उन को लीला-वश स्वकीय करा कर उन के साथ विलास किया। अतः उद्यममात्र का प्रयोग किया गया परन्तु पार कराने की बात नहीं। प्रयत्न का आरम्भ उद्यम है। उससे जो नाव पर नहीं चढ़ सकी उन को श्रीकृष्ण स्वयं गोद में उठा कर चढ़ाने लगे यह सूचित होता है। इसी लीला में ही उन का प्रयत्न था अन्य विषय में नहीं। अथवा—कुछ गोपियों के पर पार में अथच कुछ गोपियों के इस पार में संकेत-स्थल था। गोपी-सम्बन्धि जो पारावार है उस विषय में जिन्होंने गमन किया है। इस प्रकार कष्टसाध्य पारगमन-उद्यम निरूपण के द्वारा इन के लिये श्रीकृष्ण अशक्य कार्य्य करते हैं यह सूचित हो रहा है। इस प्रकार श्रीकृष्ण वर्त्तमान में क्यों नहीं आते हैं यह सोपालम्भ दैन्य-वचन है। अथवा—गोपीरूप जो पारावार है उस के लिये अवतरणादि करने वाले। जैसा कि कहा है—"व्रजवासियों के पाप-

नाशार्थ तुम्हारी अभिव्यक्ति है" "आप ब्रजजनों की आर्त्ति हरण के लिये प्रकट हुए हैं" इत्यादि। यहाँ रसांश में समुद्रत्व है। इस प्रकार समस्त गोपियों में श्रीकृष्ण का इष्टकर्त्तृत्व निरूपण कर उन में से अपने में अत्यन्त अनुराग-व्यक्त कर कहने लगीं—राधावरुन्धनरतः इस पद से। राधिका में जो रोध है उस में रत ऐसा अर्थ है। वर्त्तमान में केवल लीलाभिनिविष्ट के कारण अपने अनुसन्धान रहित हो कर अन्य गोपिकाओं की भाँति अपना नाम कहने लगीं, नहीं तो "मदवरुन्धन" ऐसा कहतीं। यह वचन तब है कि जब कि श्रीकृष्ण से मिलने के लिये दिन में उन के लिये गुप्तस्थल पर पकान्न, शिखरिणी, श्रीखड, शक्कर, सुश्रुत, दुग्ध, ताम्बूल, चन्दन, मालादि लेकर गोरस विक्रय छल से वन में उन के निकट कुछ सखियों के साथ आई थीं।

उस समय सखाओं के साथ प्राणवल्लभ ने उन के अनजान रूप में दानछल से सब का नाम लेकर आह्वान किया। तदनन्तर औरों से किञ्चित् अपने अभिलषित प्राप्त कर तथा उन को प्रस्थापित कर "जिस से अधिक लेंगे उस को अधिक देंगे तो उसे छोड़ देंगे देखाओ तुम्हारे पास क्या क्या बस्तु हैं" इस प्रकार जब बोलते हैं तो वह "मैं न कुछ दूँगी न कुछ दिखाऊँगी" ऐसा कह कर प्रिय के वदन कमल को देखने लगी, इस का स्मरण कर बोलने लगीं—यहाँ रतत्व तदेक पर है। इस लिये ही वे वहाँ ठहरते हैं ऐसा भावार्थ है। उस के बाद "मैं एकान्त में इसे ज्ञात करूँ जिस से वह कुछ देगी तब तक तुम सब गौ चराओ" इस प्रकार सखाओं से कह कर उस गोपी को निविड़ कदम्ब बाटिका में ले कर उस के साथ उन सब वस्तु का भोग कर यथेच्छरूप से वहाँ रमण करते हैं उस का स्मरण कर कहने लगीं-"कदम्बवनमन्दिरः" इस पद से। कदम्बवन ही मन्दिर जिस का वे। बहुसंस्कार से संस्कृत नानाविध चित्रवाला

मन्दिर कहा जाता है। यहाँ प्रातःकाल में सखियों के द्वारा प्रेषित विविध पुष्प-दल-मालाओं से तल्प-आसन-वितान-द्वारतोरण-भूमिकादि विरचित हुए हैं ऐसा सूचित होता है ॥२४॥

उस के बाद दूतियों के द्वारा यहाँ श्रीकृष्ण हैं जान कर जिस किसी छल से वे सब समागत हुईं, उन के साथ श्रीकृष्ण क्रीड़ा करने लगे इस का स्मरण कर क्रम से कहने लगीं—"व्रजयोषित्सदा-हृद्यो" इत्यादि पद से। व्रजयोषित् यह सामान्योक्ति है अतः समस्त व्रजयोषित् समागत हुईं यह जानना। व्रजयोषितों के निरन्तर हृदय सम्बन्धी हैं, वहाँ रह कर निरन्तर उन के साथ रमण करने वाले ऐसा जानना। अथवा—उन व्रजयोषितों के सर्वदा प्रिय ऐसा अर्थ है। अतः भोग के बाद उस प्रकार की आर्त्ति है अथवा नहीं यह शंका परिहृत हुई। अथवा ये सब व्रजयोषिद् सर्वदा हृद्या जि।-की। उस से परस्पर में कभी वियोग नहीं है यह सूचित होता है। हृदय सम्बन्धि व्याख्या में बहुव्रीहि समास जानना। उस से विपरीत कहा गया है कि जिस से महासुरतरस द्योतित होता है। वहाँ कभी कौतुक के लिये उन की व अपनी इच्छा से उन के नीव्यादि को पहन कर उन का वेष स्वयं धारण करते हैं इस का ज्ञात कराने के लिये व्रजयोषिद् यह पद कह कर बीच में सदा शब्द का प्रयोग करने लगीं। नहीं तो पहले सदा शब्द का प्रयोग होता। यह वेष अत्यन्त गोपनीय रूप से निरूपित है। इस प्रकार श्रीकृष्ण तथा गोपियों का आन्तर भाव कह कर सर्वदा वह रमण में हेतु है दिखावा कर बाह्यभाव को कहती हैं—

"गोपीलोचनतारकः" इस पद से। समस्त गोपियों के जो लोचन समूह हैं उन के तारकास्वरूप हैं ऐसा अर्थ है। जैसा कि गोलक के रहते हुए भी उसका तारका से यदि आच्छादन रहता है तो नहीं दीखता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के असन्निधान में उन का

निज अवलोकन नहीं है। यह उपलक्षण मात्र है । समस्त इन्द्रिय-विषयों में भी ऐसा है जानना । अथवा—गोपियाँ लोचनतारका जिन की। अथवा—गोपीलोचनों के तारक अर्थात् उद्धारक। विरह में नयनों का जल समुद्र में निमज्ज हो जाता है, वह भगवत्सम्बन्ध से है। तत्सम्बन्ध राहित्य से तत्पार चला जाता है। नहीं कोइ डूबता हुआ अन्य को देख स्वयं उद्धृत होता है ; क्षणकाल विलम्ब से वह डूब जाता है । अतः मेरी उपेक्षा उचित नहीं है यह भावार्थ है। अथवा—पहले स्वरूप निरूपण में-आनन को इन्दुत्व रूप कहा गया, उस का तारा के साथ नियमन है, अतः इन्दु की ये सब तारकारूप हैं इस आशय से कहती हैं, गोपीलोचन-समूह तारका जिन के। इस से सर्वदा दर्शन की सूचना होती है । अच्छा ? यदि ऐसा ही है तो आप कैसी ठहरती हो श्रीकृष्ण वा कैसे ठहरते हैं इस प्रकार आशंका से कहती हैं—

"जीवनानन्दरसिकः" इस पद से। जीवन रूप आनन्द जिस का, वह भी, रसिक भी, इस प्रकार कर्म्मधारय समास सिद्ध से। अथवा उस प्रकार आनन्द में रसिक अर्थात् रसज्ञ। भगवद्सम्बन्धी आनन्द जोवन रूप का कारण है। जो पूर्वदत्त अथवा अन्तःस्थित है, वह मेरा जीवन-मात्र है परन्तु सुख रूप अथवा दुःखाभाव रूप नहीं है। संगाभाव बलिष्ठ होता है। गीतगोविन्द में "केवल तुम्हारी रतिकला से जीती है" ऐसा कहा है। विरह से संतप्तमाना अथवा प्रियदौर्लभ्यता से अति आतुरा रमणी का प्रिय-संगम में महान् रस होता है परन्तु सब समय प्रिय के रहने पर नहीं, उस महान् रस विशेष के लिये रसिक रूप से श्रीकृष्ण की स्थिति है। उभयस्थिति में दोनों हेतु कहे जाते हैं। यद्यपि भगवत्संगम सार्वदिक् है तो भी भगवान् रसमार्ग में रह कर रसमार्गमर्य्यादा का स्थापन करते हैं। वह रसमार्गमर्य्यादा विरहादि से पराकाष्ठा स्वरूप बन जाती है ।

अथवा स्थलक्रीड़ा कह कर जलक्रीड़ा को बाद में कहती हैं—जीवनानन्दरसिक इस पद से। जीवन जल है, तत्सम्बन्धी जो आनन्द अर्थात् जलक्रीड़ा रूप है उस में रसिक ऐसा अर्थ है। अथवा जल से आनन्द जिन का वे मत्स्य हैं तद् वद् रसिक अर्थात् रसज्ञ हैं। मत्स्य जिस प्रकार जल के बिना क्षण काल नहीं ठहरते हैं ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण इस रस के बिना नहीं ठहरते हैं। अतः वे आवेंगे इस आशा से मैं यहाँ ठहरती हूँ यह भावार्थ है। इस प्रकार क्रीड़ा का वर्णन कर उस के बाद श्रीकृष्ण ने बैठ कर व ठहर कर जो लीला की उस का स्मरण कर कहने लगीं—पूर्णानन्दकुतूहल इस पद से। स्थल-जलक्रीड़ादि से पूर्णानन्द जिन गोपियों में है उन में कुतूहल अर्थात् क्रीड़ाविशेष जिन का वह। इन दोनों क्रीड़ा के बाद श्रीकृष्ण ने पुष्पनिर्म्मित कन्दुकाकार को गोपियों में फेंका, वे भी श्रीकृष्ण में फेंकने लगीं, उस से हास्य के साथ महान् आनन्द उत्पन्न हुआ। उस का स्मरण कर कहने लगीं। अथवा अवज्ञा-पूर्वक सोपहास लीला को कुतूहल कहा जाता है। पूर्णानन्द है कुतूहल में जिस का ऐसा अर्थ है। अथवा—पूर्ण आनन्द इन में यहाँ पूर्णानन्द पद से ज्ञानयुक्त ज्ञानी कहे जाते हैं, वे सब कुतूहल उपहास में जिन के। "वे सब ज्ञानी क्यों इस प्रकार नेत्र मूँदते हैं, क्यों वा शून्य का ध्यान करते हैं" इत्यादि गोपियों के साथ श्री-कृष्ण उन का उपहास करते हैं ॥२५॥

इस प्रकार सर्वाधिक रसदातृत्व का निरूपण कर क्रीड़ा के बाद उपविष्ट श्रीकृष्ण का स्मरण कर कहने लगीं—गोपिकाकुच-कस्तूरीपङ्किल इत्यादि पदों से।

गोपिकाओं की कुचसम्बन्धिनी कस्तूरी से पङ्किल ऐसा अर्थ है। कस्तूरी का पङ्कत्व महासौरत उत्थित श्रमजल कणों से जानना। श्रीकृष्ण में भी श्रम का सूचित होता है। श्रमजलकणों से

व्याप्तांग श्रीकृष्ण जब गोपियों के निकट उपविष्ट हुए तब उन के अनिर्वचनीय सौन्दर्य्य का अनुभव कर कहने लगीं—अथवा सन्ध्या-समय आऊँगा ऐसा कह कर अन्यत्र रात्रि विता कर प्रातःकाल आकर किसी व्यज से रात्रिरमण गोपन करने वाले श्रीकृष्ण का चिन्हित वक्षःस्थल देख कर अन्य गोपी के साथ विहार का निश्चय कर उस के स्मरण से ऐसा कहने लगीं। अथवा गोपियों के स्तन कस्तूरीपङ्किल जिन से। पहले कस्तूरी-पत्र आर्द्ररहित था, श्रीकृष्ण के द्वारा रमण किये जाने पर श्रमजात जलकणों से भीग गया। अतः आलिङ्गन आदि से वे पङ्किल हो गये। अथवा श्री-कृष्ण सर्वांग से पङ्किल हुए। उस से असख्य गोपिकाओं के साथ श्रीकृष्ण का रमण सूचित होता है। इस प्रकार बहुरमण से भी वे एक रस हैं इस का विचार कर कहती हैं—केलिलालस इस पद से। केलियो में अर्थात् कामक्रीडाओं मे लालस अर्थात् इच्छापूर्त्ति-शून्य। जो जिस में लालसायुक्त है वह उस के लिये यथा कथाञ्चत् साधन करता है।

श्रीकृष्ण क्रीड़ांश में सर्वदा प्रयत्नशील हैं अतः वे रसदायक सूचित होते हैं। "ब्रजयोषित्सदाहृद्यः" इस नाम से ब्रजगोपिकाओं का सावकालिन भाव व्यक्त है। अतः रसाभाव की शंका नहीं है। कदाचित् बहुरमण के बाद अपने को मानिनी हो जाने पर बहु चाटुबचनों से मना कर पुनः बहुधा रमण करने लगे उस का स्मरण कर कहने लगीं। अथवा—बहु प्रकार से रमण करने पर भी प्रियस्वरूप का दर्शन कर पहले से अधिक लालसा उत्पन्न हुई अतः अपने अनुभव का स्मरण कर कहने लगीं केलिओं में लालसा जिन से वे। अच्छा? शका के रहने पर रस की उत्पत्ति नहीं है। यहाँ स्वच्छन्द रमण मे यदि कोई आ जाता है अथवा जान लेता है तो क्या होगा? इस प्रकार विचार कर कहती हैं—"अलक्षित-

कुटीरस्थः" इस पद से। कहीं किसी प्रकार से कोई नहीं देख सकता है कुटीरों को अर्थात् लतागृहों को, उन लतागृह में रहने वाले। अतः कुछ समय न देख कर ढूढ़ते हुए यदि आते हैं तो नहीं जान पावेंगे, उस से रसभंग कभी नहीं होगा। वस्तुतः उन की निकटस्थबुद्धि निरन्तर रहती है, अतः अनुपपन्न कुछ नहीं है। रास-पञ्चाध्यायी में कहा है—"अपने अपने निकट अपनी अपनी पत्नि मौजूद हैं इस प्रकार मानकर" इत्यादि। अथवा—"जहाँ चारों ओर लतागृह हैं तथा बीच में उपवेशन स्थल है, वहाँ आप सब आईये मैं भी आऊँगा" ऐसा कह कर पहले वहाँ जाकर एक गृह में गुप्त रूप से ठहरने लगे। गोपियाँ न जानती हुई वहाँ आईं एवं परस्पर में रहःकथा कहने लगीं कि श्रीकृष्ण जब मिलेंगे उस समय मैं ऐसा करूँगी। सब श्रीकृष्ण के आगमन का निर्द्धार कर उत्साहित होकर तथा मर्य्यादात्यागन कर ठहरने लगीं। कुछ समय के बाद में श्रीकृष्ण लीलापूर्वक असाधारण सीत्कार करने लगे। उस से उस समय वे सब चकितनयना तूष्णी हो गयीं और कहीं प्राणनाथ हैं देखो इस प्रकार से धीरे धीरे बोलने लगीं, बीच में अकस्मात् श्रीकृष्ण कुञ्ज से बाहर आ गये। उस समय लज्जा-युक्त हास्य पूर्वक भगवदवलोकन जनित भाव विशेष उदय हुआ। नाथ के समागत में मैं ऐसा करूँगी तुम ऐसा करोगे ऐसा कह कर आश्लेषादि करने वाली उन में जो महत्सुख का अनुभव हुआ उस का स्मरण कर कहने लगीं। अलक्षित वह पुनः कुटीरस्थ इति। अथवा—जब कभी स्वयं निकुञ्ज में तल्पादि रचना कर ठहरी हुई थी उस समय पीछे आकर मिलने वाली किसी गोपी के प्रति अवधानता से श्रीकृष्ण कहने लगे। तुम पुलिन में जाओ, मैं वहाँ आऊँगा, अन्यत्र मत जाना। यह सुन कर उस ने कहा—मैं ने तल्पादि का निर्म्माण किया है, जब तक वह समस्त न करने पातो

तब तक कृपा करके श्रीकृष्ण आय जावेंगे इस प्रकार काकुस्वर से बोलने लगी तब श्रीकृष्ण चकित रूप में वहाँ आकर धीरे से चाटुकार करने लगे। उस ने "वहाँ हो जाओ, मेरे मन में कोई विषाद नहीं है, कौतुकार्थ मैंने ऐसा कहा है" इस प्रकार कहा, श्रीकृष्ण बलात् आश्लेषादि से उस को वश में कर वहाँ ही नाना प्रकार विलास करने लगे इस प्रकार पूर्वानुभूत का स्मरण कर कहने लगीं—नहीं लक्षिता हुई कुटीरस्था जिन से वे। उस समय अपनी निर्बन्ध से मेरे लिये तुमने वैसा किया अब मेरे निर्बन्ध से ऐसा करो यह भाव सूचित होता है। अच्छा! वे प्रिय वहु स्त्री वल्लभ हैं, निरन्तर क्रीड़ा करते रहते हैं। आप के लिये कभी आवेंगे, तब तक धीरज रखिये, इस प्रकार बोलने वाली सखी के प्रति कहने लगी—राधासवस्वसम्पुटः इस पद से। अथवा अलक्षित कुटीर राधा का ही है, श्रीकृष्ण के उस रूप में हेतु को कहने लगीं—राधा इत्यादि पद से। राधा का जो सर्वस्व है उस का सम्पुट अर्थात् समुदित राधा के सर्वस्वरूप हैं। अथवा—जिस प्रकार कृपण जन सर्वस्व अपने जो कुछ सुवर्णादिक है उसे सम्पुट में रख कर उसे प्राणों से भी अन्तरंग वना कर निरन्तर रक्षा करता है, क्षण-भर के लिये न देखने पर व्याकुल हो जाता है उस प्रकार राधा का जो सर्वस्व अर्थात् प्राण-इन्द्रिय-अन्तःकरण-शरीर-धन-यौवन-सौन्दर्य्यादिक है वह समस्त श्रीकृष्ण में अर्पित हुआ है यह वाक्यार्थ है। इस प्रकार की धीरा आप कैसे नहीं देख सकती। अतः कुटीर का अलक्षितत्व कहा गया है। यहाँ पूर्व की भाँति अपने नाम का ग्रहण है। सम्पुट पद से राधिका ही जानती है अन्य कोई नहीं यह सूचित होता है। अथवा राधा ही सर्वस्वसम्पुट रूपा जिन की ॥२६॥

इस प्रकार निजरमण कह कर "कृत्वा तावन्तमात्मानं" अर्थात् "अपने को उस परिमाण से प्रकटित कर" इत्यादि प्रकार से वहाँ

क्रीड़ा कर उपवेशन स्थान में सब के साथ उपस्थित हुए उस का क्रम से स्मरणकर कहने लगीं—"वल्लवीवदनाम्भोजमधुमत्तमधुव्रत:" इस पद से। वल्लवीओं के जो वदन कमल तत् सम्बन्धि जो मधु अर्थात् लावण्यामृतरस तथा अधरामृत उन से मत्त अर्थात् सर्वविस्मृत भ्रमर ऐसा अर्थ है। मत्तमधुव्रतत्व उक्ति से उन के निकट उपवेशन कर उन के साथ गान करते हैं यह सूचित होता है। भ्रमर भी मत्त होकर झंकारगान करता है। वदनों का अम्भोजत्व निरूपण से उन का वह योग्यत्व सूचित होता है। भ्रमर का मधुपान ही व्रत है अन्य कुछ नहीं, वह मत्त होकर अन्य कुछ नहीं गीनता है। श्रीकृष्ण के लावण्य-अधरामृतादि मधु रूप से निरूपण है वह गोपी भोग परक है।

इस रस में लक्ष्म्यादि गीन नहीं जाती हैं। अत: इस से मर्य्यादा का अतिक्रम होता है। अच्छा ? यदि आप इस प्रकार की प्रिया हो तो आप को छोड़ कर वर्त्तमान अन्यत्र कैसे विद्यमान हैं इस प्रकार की शंका परिहृत होती है। भ्रमर की एक स्थान में स्थिति नहीं है। परन्तु मेरी सरसता के कारण वे आवेंगे यह मेरा महान् अवलम्बन है। जिस से मैं जीऊँगी ऐसा भाव है। अन्यत्र स्थिति में हेतु कहा गया है। अम्भोज पद से वदनों का शीतलत्व, सुरभित्व, कोमलत्व, अतिसरसत्व सूचित होता है। अथवा—नयनचुम्बनजातनीलिम अधर को निकट में देख कर पहले कभी भ्रमरभ्रम हुआ था। गोपी मुखाम्भोज मधुमत्तत्व वह रसाधिक्य के हेतु श्रीकृष्ण के अधर में आया इस का स्मरण कर इस प्रकार कहने लगीं। उस प्रकार मधुव्रत जिन में इत्यदि। यहाँ आमोद का एवं तदनुगतिजातसुखातिशय का मधुव्रतत्व रूप जानना। अथवा—मधु पद से साधारण कमल मधु कहा जाता है। अत: वल्लवीवदनाम्भोज में मधुमत्तमधुव्रत जिस से ऐसा अर्थ है। रतान्त में पद्मिनीरमणियों

का पद्मगन्ध उत्पन्न होता है । उस में मत्त मधुव्रतों का आगमन होना स्वतःसिद्ध है । जिस से अधिक रसादिमत्व सूचित होता है । अब धर्म्माम्बर से मधुव्रतत्व का निरूपण कर कहती हैं—निगूढ़रस-विद्" इस पद से । नितरां गूढ़ अर्थात् सर्वदा गुप्त जो रस उस के ज्ञाता । जिस प्रकार भ्रमर कमलनाल-पत्रादि का त्याग कर अन्त-र्निहित गुप्त मकरन्द का पान करता है तथा उस के तथ्य को जानता भी है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण "इस प्रकार निर्बन्ध से यह रस उत्पन्न हो सकता है, यहाँ इस प्रकार नख-दशन दान से यह रस होगा" इस का समस्त जानते हैं । उस से वे महारस के भोक्ता व दाता सूचित होते हैं । अच्छा ? वे गोकुलेश्वर हैं समस्तभय से रहित हैं इस प्रकार गुप्त रमण का क्या हेतु है तो कहती हैं "निगूढ़रसविद्" अर्थात् निगूढ़ता में जो रस उस के ज्ञाता । "गुप्तरूप से रमण में जो रस है वह प्रकट रूप रमण से नहीं" इस अर्थ को वे जानते हैं तथा उस प्रकार विधान करते हैं । अथवा—जब कभी गोपीवेश धारण कर ऊपर महान् वस्त्र से मुख कमल ढ़ाक कर गोपियों में उपविष्ट होते हैं उस समय कुछ गोपबालक भगवान् यहाँ हैं क्या ? पूछते हुए उपस्थित होते हैं, यहाँ अन्य कोई पुरुष नहीं हैं इस प्रकार गोपियाँ उत्तर देती हैं उस का स्मरण कर कहती हैं—निगूढ़रस-विद् । इस निगूढ़ रहस्य को वे नहीं जान पाते हैं जिस को श्रीकृष्ण ग्रहण करते हैं । इस प्रकार रतिकर्त्ता का निरूपण कर उसके बाद पुष्पावचयन क्रीड़ा का स्मरण कर कहने लगीं—"गोपीचित्ताल्हा-दककाननः" इस पद से । गोपीचित्त आल्हादकारी वन जिन का । वहाँ प्रतिवृक्ष-कोमलदल-प्रसून-लतागृह, जलक्रीडार्थह्रदादि का दर्शन कर तथा एकान्त योग्यस्थल मान कर आल्हादविशेष प्राप्त करते हैं । अथवा—निगूढ़रसविद्गोपीचित्ताल्हादककाननः एक नाम है । यहाँ गोपी विशेषण है । अथवा—गोपियाँ चित्त में जिन-

की वे, तथा उन के आल्हादकारी कानन जिन का । पहले जब श्रीकृष्ण एव गोपियों की परस्पर में आसक्ति हुई तब श्रीकृष्ण "कहाँ रमण करना चाहिये" इस प्रकार विचार कर तथा वृन्दावन को देख कर परम सन्तुष्ट हुए उस का स्मरण कर कहने लगी। जैसा कि कहा है—"वृन्दावन, गोवर्द्धन, यमुनापुलिन इन सब को देख कर राम-माधव का उत्तम प्रीति हुई"। "कलानिधिः" इस पाठ से अर्थात् "निगूढ़रसविद्गोपीचित्ताल्हादकलानिधिः" इस प्रकार पाठ में बहुव्रीहि समास है। "कामकलानिधि" यह भी अर्थ हो सकता है। अर्थात् गोपीचित्त आल्हाद में कलानिधि (चन्द्रमा) हैं ॥२७॥

उस के बाद स्वयं गोपिकाओं के साथ क्रम से कालिन्दीपुलिन का सम्यक्तया दर्शन कर वन के निकुञ्जों मे क्रीड़ा करनी चाहिये, उस के बाद यहाँ बैठना चाहिये, जलक्रीड़ा भी करनी चाहिये, क्रीडाकरणीभूत वन में सब को परस्पर दर्शनादिक नहीं होता है, पुलिन में सुचारु रूप में सब को हो सकता है इस विचार से अत्यन्त आनन्द उत्पन्न हुआ इस का स्मरण कर कहने लगीं। "कालिन्दीपुलिनानन्दी" इस पद से। कलि का खण्डन करने वाला कलिन्द उस की कन्या कालिन्दी है। उस से गोपियों में परस्पर सापत्न्यभाव का अभाव सूचित होता है। कालिन्दी का जो पुलिन उस में पूर्वकथित जो आनन्द है तद्विशिष्ट ऐसा अर्थ है। अथवा—कालिन्दीपुलिनसम्बन्धि रासरूप जो आनन्द तद्विशिष्ट। अथवा कालिन्दीपुलिन में आनन्दत्व जिन से। यहाँ भाव प्रधान है। उस के बाद एक ही स्वरूप में स्थित हो कर बहुतों के निकट बहु स्वरूप में प्रकटित रूप से जो विलास किया है उस को कहती हैं—"क्रीड़ाताण्डवपण्डितः" इस पद से। क्रीड़ारूप ताण्डव के पण्डित अर्थात् अतिचतुर हैं। नियम रहित नृत्य ताण्डव है। उस के पहले क्रीड़ा-

शब्द की योजना है । तात्पर्य्य—किसी को रमण कराते हैं, किसी को अर्द्धरता करा कर उस को त्याग कर अन्य को परिरम्भण करते हैं, पुनः उस का त्याग कर अन्य का चुम्बन करते हैं, निकटस्था किसी का त्याग कर दूरस्थित अन्य का ग्रहण करते हैं, ऐसा सूचित होता है । रसशास्त्र कथित पाण्डित्य का यहाँ स्पष्ट है । श्रीकृष्ण इस प्रकार क्रीड़ा करते हैं जिस से रस का उत्तरोत्तर आधिक्य हों । उस के बाद सब के साथ रमण करने लगे इस आशय को लेकर कहने लगीं । "आभीरिकानवानङ्गरङ्गभूमिसुधाकरः" इस पद से । आभीरिका रूप नवीन कामदेव की जो रङ्गभूमियाँ हैं तत्सम्बन्धि सुधाकर अर्थात् चन्द्रमा हैं । जिस जिस क्रीड़ा से वे आनन्दित होती हैं उस क्रीड़ा के कर्त्ता ऐसा अर्थ है । नवीनत्व का तात्पर्य्य-प्रसिद्ध काम से वह काम भिन्न है, जो श्रीकृष्ण के अधिदेव है । प्राकृत काम महादेवजी के द्वारा दग्ध हुआ है, यह तो यहाँ उद्भव अर्थात् विकाश प्राप्त हुआ है । "व्रजानङ्गनवाङ्कुर" इस नाम में हेतु के साथ हम ने विस्तार कर कहा है । रङ्गभूमि शब्द से रणभूमि तथा विलासभूमि कही जाती है । उस से उन में रतिकौशलता सूचित होती है । अथवा—नव शब्द भूमि विशेषण है । आभीरिओं की नवीन जो अनङ्गरङ्गभूमियाँ अर्थात् उरःप्रदेश है तत्सम्बन्धिनी जो सुधा अर्थात् कामरस है उस का आकर अर्थात् स्थान है । लौकिक चन्द्रमा लौकिक सुधा का आकर रूप से कहा जाता है, श्रीकृष्ण अलौकिक इस सुधा के आकर हैं । कर पक्ष में भी ऐसा अर्थ है । नवीन शब्द से कैशोर-यौवन की मध्यावस्था सूचित होती है । अतः पहले अचतुरा ही थीं भगवद्दर्शन मात्र से रसशास्त्रनिपुणा हुईं । इसी लिये पहले आभीरिका शब्द का प्रयोग है । आगे "विदग्धा" ऐसा कहेंगी । अथवा—सामान्य क्रीड़ा कह कर तलादिओं में विशेष क्रीड़ा कहती हैं—"आभीरिका" इस पद से । उन की नवानङ्ग-

सम्बन्धिनी जो रङ्गभूमियाँ है अर्थात् पुष्पादिशय्या है उन में सुधाकर अर्थात् दर्शन-आश्लेष-चुम्बन-रमण-नखादि मयूखों से निखिलतापहारी ऐसा अर्थ है। इस से अन्धकार की शंका तथा प्रदीपादि की अपेक्षा निरस्त हो रही है। अथवा—पूर्वोक्त सुधा में सुधानिमित्त कर जिन के वे, गोपीवक्ष में दत्तकर उन का स्मरण कर कहने लगी ॥२८॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण का चातुर्य्य कह कर अब अपनी चतुराई का स्मरण कर कहने लगीं—"विदग्धगोपवनिताचित्ताकूतबिनोदकृत्" इस पद से।

विदग्धा अर्थात् सर्वांश में अतिचतुरा जो गोपवनिताएं हैं उन के चित्त में मनोरथ के द्वारा पूर्व विचारित विनोदों के कारक। श्रीकृष्ण जब किसी दिन रात्रि में मिलेंगे तो हम सब उन को बाँध कर रखेंगी, हसेंगी इस प्रकार विचार कर बैठी हुई थीं, श्रीकृष्ण नें उन की कुछ अपेक्षा नहीं की। इस से रमण का अति सरसत्व सूचित होता है। श्रीकृष्ण की विदग्धता गोप-सम्बन्ध से है स्वयं से नहीं है। सर्वदा गोचारण के कारण अतिचतुरता का उनमें अभाव है। अथवा श्रीकृष्ण के उस प्रकार विनोद समूह हैं। उस प्रकार की वनिताएें चित्ताकूत-विनोदकारी जिन की। जब कभी श्रीकृष्ण राधिका को बुला कर उस को अन्य आसङ्ग करा कर चुम्बन करूँगा ऐसा विचार कर बुलाने लगे तथा समागत राधिका को गोद में बैठा कर समाचार पूछने लगे। राधिका श्रीकृष्ण का अकस्मात् चुम्बन कर "यह समाचार" है एसा कहने लगी। उस समय महान् विनोद हुआ, उस का स्मरण कर कहने लगीं, इसी लिये विनोद पद दिया गया है। इस प्रकार एकान्त में कुछ गोपियों के साथ श्रीकृष्ण के रमण होने पर अन्य गोपियाँ उन के द्वारा प्रेषित दूती के द्वारा प्राणनाथ की पुलिनस्थिति जान कर विविध वस्तु

लेकर वहाँ आईं। इस का स्मरण कर राधिका कहने लगीं—"नानोपायनपाणिस्वगोपनारीगणावृतः" इस पद से। अथवा—रमण के बाद समस्त ब्रजबालाओं को श्रान्त व सभुक्ता जान कर कुछ गोपियाँ समस्त द्रव्य लेकर प्रिय के निकट आईं, उस का स्मरण कर कहने लगीं। नानाविध जो उपायन हैं अर्थात् शिखरिणी-पक्वान्न-घृत-दुग्धादि, ताम्बूल-चन्दन-कस्तूरी आदि सुगन्ध-द्रव्य, वस्त्र-माल्य-पुष्पादि हैं वे हस्तस्थित जिन के इस प्रकार गोप-रमणियों के जो समूह उन से आवृत।

यहाँ उपायनों को पाणिस्थ कहा गया है, जो उन के आगमन के बाद रमण स्थल त्याग कर अति प्रशस्त यमुना निकट निबिड़ तरुछाया में उपवेशन कर आगे की लीलाएँ करने की इच्छा से है। नहीं तो सामग्रीयाँ वहाँ ही पड़ी रहतीं। जैसे कि कहा है—"तदनन्तर यमुना के उपवनों में जल-स्थल में" इत्यादि पद्य से। ये समस्त गोपियाँ श्रीकृष्ण के निमित्त लौकिक-वैदिक मर्य्यादा नहीं मानती हैं और समस्त त्याग कर भजन करती हैं। अतः श्रीकृष्ण भी लोक-वेदातीत फल उन्हें देते हैं" इस का ज्ञापनार्थ गोपसम्बन्ध का निरूपण किया गया है। सब इस प्रकार की हैं इसका ज्ञापनार्थ अथवा यूथ-भेद ज्ञापनार्थ गणपद का प्रयोग है ॥२६॥

इस प्रकार गति निरूपण कर वहाँ जा कर जो करने लगे उस-का वर्णन करती हैं—"वाञ्छाकल्पतरुः" इस पद से। वाञ्छा में कल्पतरु ऐसा अर्थ है। उत्फुल्ल कमल वाली, मयूर-कलहंसादि से शब्दित यमुना में कमल एवं तटस्थित विविध प्रसूनों से रमणार्थ धीरसमीर से सेवित विरचितस्थली का दर्शन कर जलक्रीड़ा की इच्छा हुई। उस समय श्रीकृष्ण जलक्रीड़ा के द्वारा श्रम दूर करने के लिये वह क्रीड़ा करने लगे। जैसा कि कहा है—"उन के साथ मिल कर श्रम दूर करने के लिये" इत्यादि। यहाँ वाञ्छापद से उन के

विना कहे भी करने लगे ऐसा सूचित होता है। कल्पतरु के हेतु समस्त अनायास से करना एवं अविकृत रहना सूचित है। वह कल्पवृक्ष देवभोग्य वस्तु है उसी प्रकार श्रीकृष्ण इन की भोग्यवस्तु हैं। इस प्रकार सामान्य रूप से जलविहार कह कर वहाँ रमण क्रीड़ा का निरूपण करती हैं—"कामकलारसशिरोमणिः" इस पद से।

कामरूप जो कला तत्सम्बन्धी जो रस उस में शिरोमणि अर्थात् सर्वश्रेष्ठ। इस प्रकार कामकलारस का इन के बराबर कोई नहीं जानता है। जल में रतिक्रीड़ा करना कठिन होता है। श्रीकृष्ण लौकिक-अलौकिक अनुभावों से समस्त करते हैं। कलाशब्द से विचित्रत्व द्योतित होता है कामकलारसों के शिरोमणिभूत अर्थात् उस प्रकार के रसरूप हैं। समान जातीय में उत्कर्ष की योग्यता होती है। उस से निरन्तर पूर्णरस का सूचित होता है। अथवा-वह रस शिरोमणिभूत जिन से वे। कामरस तो पहले पापहेतु के कारण मर्य्यादा में अत्यन्त तुच्छ है। अब श्रीकृष्ण ने ब्रह्मानन्द-मोक्षादि से अधिक रूप उसे बनाया है। इस प्रकार जलक्रीड़ा के बाद तट पर आकर अंग प्रोंछनादि करने लगे, उस के बाद वस्त्रादि पहन कर सब के साथ भोजनादि किया। अनन्तर ताम्बूलादि भक्षण कर उष्णीष,कञ्चुकादि धारण कर वहाँ आसन पर बैठे। वे सब श्रीकृष्ण के कपाल में तिलक करने लगीं, कपाल-तल से लेकर सर्वांग चन्दन का लेपन किया, माला पहिनाई, स्वयं परस्पर में शृङ्गार-तिलक-अञ्जनादि कर पुष्पमाला पहन कर श्रीकृष्ण को चारों ओर घेर कर बैठ गईं। पूर्व शोभा का स्मरण कर राधिका कहने लगीं—"कन्दर्पकोटिलावण्यः" इस पद से। कोटि यहाँ उपलक्षण मात्र है। असंख्य कन्दर्पों से भी अधिक लावण्य जिन का वे,दशम स्कंध में कहा है—"श्रीहरि त्रैलोक्यलक्ष्मी के एक मात्र आस्पद (भंडार) शरीर का धारण कर गोपीसमाज में शोभित हुए"। इस प्रकार सौन्दर्य्य

का निरूपण कर रासपूर्वकालीन प्राकट्य के बाद पुलिन में आसनोपरि विराजमान श्रीकृष्ण की शोभा स्मरण कर जिस प्रकार वहाँ उपविष्ट होकर अङ्गसङ्ग–वचनादिओं से पूर्व विरहताप का दूर किया है उस प्रकार अभी आकर पूर्वताप का दूर करें इस भाव से तत्कालीन शोभा को कहती हैं—"कोटीन्दुललितद्युति:" इस पद से । कोटी शब्द पूर्व की भाँति असख्यबाची है । असंख्य चन्द्रों से भी ललित मनोहर कान्ति जिन की ऐसा भावार्थ है । उस से निर्म्मलत्व, अन्य प्रभाओं से अपराभवत्व, सवदा एक रूपत्व, गोपीवदनविकास-कारित्व इत्यादि सूचित हैं । अत: श्रीकृष्ण के समक्ष लौकिकचन्द्र लीलोपयोगी होना उचित नहीं हैं। वह तुच्छ प्रभावाला है, उद्दीपनादि में उस का प्रयोजन नहीं है । बृन्दावनसम्बन्धि यह तो अलौकिक श्रीकृष्ण के मनोऽधिष्ठाता है । जो लीलोदय के समान काल में उदय होता है, लीलोपराम के समान काल में उपराम होता है । मध्या-काश में उस की केवल गतिमात्र है । वह अस्तादि रहित है । यह समस्त "तदोडुराज" इस श्लोक में निरूपित किया गया है । उन रात्रियाँ तथा उस लीला के नित्यत्व के कारण इस विषय में क्या प्रत्याशा हो सकती है । ? द्युति के तथात्व निरूपण के द्वारा अङ्ग सङ्ग के बिना ही प्रसरणशील भगवत्प्रभा सम्बन्ध से तापापगम सूचित होता है । जिसकी प्रभा इस प्रकार की है, उस का सग का कहना ही क्या है ऐसा भाव है । अथवा—रास में निज निकटस्थ श्रीकृष्ण के दर्शन से तथा श्रीकृष्ण के द्वारा रसार्थ प्रकटित अन्य स्वरूपों के प्रदर्शन से वहाँ वहाँ प्रभा को ही देखने लगीं उस का स्मरण कर राधिका कहती हैं "कोटीन्दुललितद्युति: "इस नाम से ॥३०॥

इस प्रकार करण में क्या अभिप्राय है तो कहती हैं—

"जगत्त्रयमनोमोहकरो" इस पद से । जगत्त्रयपद से वहाँ की स्थित रमणियाँ कही जाती हैं, वे ही जगत् में हैं अन्य नहीं, जिनको

यह मोह हो सकता है । औरों की अनवस्थितिमानने वाली वे ही जगत्पद से कही जाती हैं। उन के मन के मोहन अर्थात् वशीकरण रूप हैं यह अर्थ है। त्रिजगत् रमणियों के मन को मोहित करना ही उद्देश्य जिन का। इसी लिये वे लीला ही करते रहते हैं। जैसा कि कहा है—'श्रीकृष्ण उस प्रकार क्रीड़ा का भजन करते हैं जिस का श्रवण कर तत्परता होती है"। जब मोहन मात्र उन का उद्देश्य है, और वह सम्पन्न होता रहता है तो मेरी बार्त्ता का क्यों चलायमान करेंगे ऐसा भावार्थ है । स्त्रियाँ स्वभाव से कामवश होकर पुरुष के वश में आ जाती हैं, श्रीकृष्ण के वश में आ जाना क्या विशेषता है तो कहती हैं-"मन्मथमन्मथः" इस पद से। मन्मथ किसी के वश में नहीं रहता है परन्तु समस्त प्राणी उस के वश में हो जाते हैं। मैं अधिक क्या कहूँगी ऐसा भाव है। अथवा—रास के पूर्वसमय विरह से जड़वस्तु में चेतनकार्य्य मान कर भगवद्गमन विषय में गोपियों के द्वाराजो प्रश्नकरण–लीलादिकरण हुआ था उसका स्मरण कर कहने लगीं इस प्रकार स्वभाव वाले श्रीकृष्ण हैं। जगत्त्रय में गोपियों का जो मनो मोह वह ही उद्देश्य जिन का वे। उस के बाद क्रम से प्रादुर्भूत का स्मरण कर "मन्मथमन्मथः" यह कहने लगीं। "साक्षा-न्मन्मथमन्मथः" ऐसा भी दशम में कहा गया है। विरह का स्वभाव अति कठिन होता है, उस में कामादि भाव तिरोहित प्राय रहता है। भगवद्दर्शनमात्र से वह उद्भव नहीं होता अतः स्वयं श्रीकृष्ण उस रूप में प्रकट होते हैं। वह रूप हृदय पर आरुढ़ होता है, तब उस का उद्भव भी अवश्य होता। वह रस हो है, नहीं तो रसाभास माना जावेगा। अतः श्रीभागवत में "कोई रमणी श्रीहरि के करा-म्बुज का ग्रहण करने लगी" यहाँ पर विरहतापत्याग कह कर भी पुनः श्रीकृष्ण का बचन सुन कर "विरहजतापं जहुः" इत्यादि कहा गया है। ताप के रहते उस का संगत हो सकता है। अच्छा ? तो यह

क्यों ? तो कहती हैं—"गोपसीमन्तिनीशश्वद्भावापेक्षापरायण:" इस पद से। गोपसीमन्तिनी का निरन्तर जो कामभाव तथा अपेक्षा है ये दोनों परायण अर्थात् उद्देश्य जिन के ऐसा अर्थ है। इसी लिये वे ऐसा ही करते रहते हैं। अथवा—उन के जो शश्वद्भाव अर्थात् निकटस्थिति तथा अपेक्षा है वे दोनों उद्देश्य जिन के। गोपसीमन्तिनी-सम्बन्धिनी जो निकटस्थिति अपेक्षा है उस के परायण अर्थात् विषय हैं ॥३८॥

उस प्रकार के धर्मवान् श्रीकृष्ण परित्यक्त नहीं हो सकते हैं इस आशय से कहती हैं—"नवीनमधुरस्नेह" इस पद से। सर्वदा नवीन मधुर स्नेह जिन का ऐसा अर्थ है। नूतन वस्तु ही प्रचुर मात्रा वाली होती है। श्रीकृष्ण की समस्त वस्तु नूतन के कारण प्रचुरमात्रा वाली हैं। मधुर शब्द से आसक्ति की हेतुता दिखलाई गई है। नवीनता के कारण अन्यासक्तिविस्मारकत्व तथा अत्यन्त अभिलाषत्व सूचित है। अथवा—नूतन वस्तुओं में मधुर स्नेह जिन का। अत्यन्त दुःख से ईषत् कोप करती हुई इस प्रकार कहती हैं। इस प्रकार भगवद्निष्ठ धर्म्म का निरूपण कर स्वनिष्ठ धर्म्म का निरूपण करती हैं "प्रेयसीप्रेमसञ्चय:" इस पद से। प्रेयसियों के अर्थात् भगवद्प्रिय गोपियों के प्रेम का सञ्चय जहाँ। कहीं प्राप्त वस्तु एक ही स्थान पर गुप्त रूप से रखने का नाम सञ्चय है। पुत्र-वित्त-गेह-देहादि स्थित स्नेह को अन्य कोई नहीं जान सकता उस प्रकार श्रीकृष्ण में समर्पित ऐसा तात्पर्य्य। वस्तुत: समस्त गोपियों ने यहाँ भगवत्प्राकट्य जान कर समस्त आशा का त्याग कर गाढ़रूप से हृदय में प्रेम का सञ्चय किया वह अब भगवद्रूप से प्रकट होने लगा। अत: श्रीभागवत में "चिरकाल से तुम में आशा का धारण करने वाली" ऐसा गोपियों ने श्रीकृष्ण से कहा है। प्रेम सञ्चय रूप भगवत्प्रेयसीत्व निरूपण के द्वारा इन के भगवत्प्रेमसञ्चय-रूपत्व का

सूचित होता है । अथवा कभी श्रीकृष्ण राधा आवेंगी इस प्रकार विचार कर निकुञ्ज में पुष्प-चन्दन-अञ्जन-नीवी-कस्तूरी-विविध भक्ष्य-ताम्बूलादि संग्रह कर प्रतीक्षा करने लगे। उस के बाद राधा के आने पर उन को विविध प्रकार से शृङ्गार कर रमण करने लगे, उस का स्मरण कर कहने लगीं-"प्रेयसीप्रेमसञ्चय:" इस नाम से। प्रेम के द्वारा सञ्चय जिन का वे । इस प्रकार बाह्य कह कर एतत् कालीन अन्तर का स्मरण कर कहने लगीं—"गोपीमनोरथाक्रान्त:" इस पद से । गोपी विषयक जो मनोरथ ऐसा करूँगा इस प्रकार विचार उस से आक्रान्त अर्थात् व्याप्त । अन्यभाव रहित ऐसा तात्पर्य्य अथवा—यदि श्रीकृष्ण भक्तगृह में गमन कर रहे हैं तो उन की प्राप्ति कैसी होगी इस लिये कहती हैं—गोपियों के मनोरथ से आक्रान्त ऐसा। उस से हमारे भाव के व्यतिरिक्त अन्य का प्रवेश नहीं है ऐसा भावार्थ है । यह स्वरूप उन के लिये है ऐसा सूचित होता है। अतएव श्रीभागवत में "श्रुतियों से विमृग्या" ऐसा कहा गया है। "तासामाविरभूत्" "एवं मदर्थे" इत्यादि पदों का ऐसा हि भाव है। परम भाग्यवन्त जन इस का विश्वास करें, अधिक क्या लिखेंगे।

अथवा—जब पहले दर्शनान्तर भगवद् आश्लेषादि मनोरथव्याप्ति के द्वारा स्वयं विस्मृतगेहादि हुईं उस का स्मरण कर कहती हैं—गोपीमनोरथ की आक्रान्ता जिन से वे । अथवा गोपी मनोरथ से आक्रान्ता जिनमें यह विपरीत भाव का स्मरण कर कहा गया है। इस प्रकार मनोरथ कहे जाने पर पहले जब कभी श्रीकृष्ण ने अपना नृत्य देखा कर निजमनोरथ की पूर्त्ति की। उस का स्मरण कर कहती हैं—"नाट्यलीलाविशारद:" इस पद से। नाट्यलीला में अतिचतुर ऐसा अर्थ है । निरर्थक तत् तथ्यादि शब्द से नृत्य सरस है इस का ज्ञापनार्थ लीलात्व का निरूपण है । अथवा— नाट्य पद से

शास्त्रीय शुद्धमार्ग कहा जाता है। लीलापद से देशीय नृत्य है।
अतः नाट्य में तथा लीला में उस प्रकार विशारद ऐसा अर्थ है। अथवा कभी राधा के द्वारा श्रीकृष्ण के समक्ष नृत्य किये जाने पर श्रीकृष्ण पद पद में उत्तम है उत्तम है इस प्रकार शिर: कम्पन कर अनुराग पूर्वक ईक्षण के साथ अतिप्रमोद से निकट में बुला कर आश्लेष करने लगते हैं उस का स्मरण कर कहने लगीं। पूर्वोक्त विशारद शब्द का अर्थ अतिरसिकज्ञाता है। वह रसिकज्ञाता जिस-से ऐसा भी अर्थ है। श्रीकृष्ण स्वयं नृत्य कर सिखाते हैं ऐसा भावार्थ है ॥३२॥

इस प्रकार सरस भगवन्नृत्य का निरूपण कर उस सरसता का कारण कहती हुई, तत्कालीन अर्थ का निरूपण करती हैं—"प्रत्यङ्गरभसावेशप्रमदाप्राणवल्लभः" इस पद से। रभस पद से नृत्य में प्रतिपद में अभिनय दर्शनेच्छाजात उत्साहविशेष बोध है। प्रत्यङ्ग में रभसावेश जिन का वे। सर्वत्र अभिनय में उस प्रकार होना सूचित हो रहा है। उस से अत्यन्त सरसता प्रकट होती है ऐसा भाव है। यहाँ देशीय नृत्य निरूपित हुआ है। आरम्भ में पश्चाद्देशीय शुद्धमार्गीय नृत्य की परिस्थिति सूचित हुई। द्रष्टा रूप में किसी को आगे बैठा कर नृत्य करते करते रसोद्गम में राधा के साथ नृत्य करने लगे उस का स्मरण कर कहती हैं—"प्रमदाप्राण-वल्लभः" इस पद से। प्रकृष्ट मत्तता जिस की उस के प्राणों से भी प्रिय ऐसा अर्थ। जिस प्रकार श्रीकृष्ण रभप युक्त हैं उस प्रकार राधिका भी इस का ज्ञापनार्थ प्रमदापद का प्रयोग है। दोनों की तुल्यता में ही सरसता है। अथवा—प्रमदा ही प्राणवल्लभा जिनकी वे। अथवा—प्रत्यङ्ग इत्यादि से रमणसामयिक श्रकृष्ण कहे जाते हैं यहाँ प्राण पद बलपरक जानना। अथवा-रास के पहले अन्तर्द्धान के बाद प्रकट होने में कौन जान सकता, अब श्रीकृष्ण कहाँ से

आवेंगे। उन का अन्वेषण के लिये प्राणों का धारण करेंगी इस प्रकार वियोगभय से प्राणों में अन्तर का स्थापन करने लगीं उस का स्मरण कर कहती है। स्थापन में सामर्थ्यसूचनार्थ प्रमदा इस पद का प्रयोग है। अब अपने प्रमदात्व का निरूपण कर उस प्रकार श्रीकृष्ण का भी निरूपण करती है—"रासोल्लासमदोन्मत्तः" इस पद से। रासरूप जो उल्लास अर्थात् उत्साह उस में जो मद उस से उन्मत्त। उसी रसपूर्त्ति से उल्लङ्घितमर्य्यादा वाले। अर्थात् स्वात्मारामत्व-ब्रह्मत्व-पूर्णकामत्वादि विस्मृत। अतः भागवत में "यथा मदच्युद्द्विरद" यह दृष्टान्त है। मत्त का ही उस प्रकार होता है। अथवा—रासोल्लासमदोन्मत्ता गोपियाँ जिन से। भागवत में "तदङ्गसङ्गप्रमदा" इत्यादि श्लोक से वैसा ही कहा है। रास से इतर विस्मारकत्व स्वभाव का निरूपणार्थ मद पद का प्रयोग है। अच्छा उस प्रकार उन का स्मरण किस प्रकार हो सकता है तो कहती है—"राधिकारतिलम्पटः" इस पद से। राधा की जो रति उस में लम्पट। अर्थात् उस का त्याग करने में असमर्थ। अथवा राधिका रतिलम्पटा जिन में वे। अथवा—कभी दिवस में निकुञ्ज-पुष्पशय्या में चिरकाल से क्रीड़ा कर आश्लिष्ट होकर शयन किये हुए थे। उस समय कोई गोपी प्रणयभर अमृत-सागर-तरङ्गावलियों में सुप्त जान कर पीछे रह कर राधिका में अपने निर्भर स्नेहोत्साह-वशंवद् मनवाली हो वह रसार्थ पूछती हुई कहने लगी राधिका के रतिलम्पट यहाँ हैं। उस समय अर्द्धसुप्तोत्थित राधा अत्यन्त प्रमोद से वस्त्रग्रहण छल से कंकण का झनत्कार करने लगी। तदनन्तर समागत उस गोपी को एकान्त में बैठा कर अपने नाम के सम्पर्क से प्रिय नाम का श्रवण कर अत्यन्त प्रसन्ना हुई। भगवद्रसचिन्हादि निभृत आलिङ्गन से अत्यन्त निर्वृत्ता वह उस गोपी के साथ एकान्तवार्त्ता करने लगी, उस समय महान् रस का अनुभव हुआ,

उस का स्मरण कर यह नाम कहने लगी । अथवा—अन्यत्र अवधि कर समस्त रात्रि अपने निकट बिताई। प्रात:काल अपने कंठ में भुजा क्षपण कर चुम्बनादि करते हुए उस गोपी के निकट उपस्थित हुए। उन की गति स्खलित हो गई तथा नयन घूर्णायमान हो गये थे। निकट में उस की सखियाँ श्रीकृष्ण को देख कर "नाथ आ रहे हैं" इस प्रकार कहने लगीं । वह गोपी दर्शन आर्त्ति से पीड़िता थी, अत: मान नहीं कर सकी । वह रसस्वभाव से झुटमुट वदन छिपा कर मौन रही। श्रीकृष्ण आकर अनेक चाटुकार करने लगे। वह पुलकित होकर अञ्चल से अपने मुख को ढकने लगी । कन्दर्पशर जात पुलकों से अपने सर्वांग छिपा न शकीं पुन: वह खिन्नमना हो कर काकुवचन से उन के दासीत्व का ज्ञापन करती कहने लगीं। "राधिकारतिलम्पट (श्रीकृष्ण) मेरे समीप कहाँ से आये हैं, यद्यपि राधिकाप्राण-रूपा आप (वह सखी) राधिकारमण से प्रसन्ना है तो भी नूपुरों के शब्दों से राधिकागमन को अनजानती सी वहाँ ठहरी। उस समय राधिका उस के चिबुक को धारण कर "मान करती हो तो करो परन्तु एक बार मुखचन्द्र का दर्शन कराओ" ऐसा कह कर वदन उठाने लगी। वह रस से अथवा चिन्हों से परिपूर्णा राधा को देख कर अत्यन्त प्रमोद से मानिनी की भाँति राधा को आलिङ्गित करने लगीं। उस समय श्रीकृष्णने हँस कर दोनों का आलिङ्गन किया । वह भी प्रियदर्शन प्रमोदभरवशा हो कर प्राणनाथ को आलिङ्गित करने लगी। उस समय श्रीकृष्ण ने उसे महान् रस दिया, वह स्वय भी अत्यन्त सन्तुष्ट हुई, उस का स्मरण कर यह नाम कहा गया है, अभी आईये इस भावना से ॥३३॥

इस प्रकार अपने रमण का उत्तरकाल स्मरण कर तथा रमणसमय स्मरण कर कहने लगी—"खेलालीलापरिश्रान्त:" इस पद

से। खेला अर्थात् क्रीड़ा उस में जो लीला अर्थात् बन्धादिरूप है उस से परिश्रान्त। अथवा—कभी श्रीकृष्ण तथा राधिका दोनों "जिस का जय होगा वह इस प्रकार चुम्बन-बन्धादि अपने गुणानुसार करेगा" ऐसा अपने अनुरूप पणबन्ध कर पासा खेल रहे थे। तदनन्तर श्रीकृष्ण के एवं राधिका के पर्य्याय रूप से अपने अपने जय के बाद निज जयानुरूप पण-बन्धादि लीलाकरण से परिश्रम उत्पन्न हुआ। यद्यपि श्रीकृष्ण का श्रम है तो भी रसाधिक्य में स्त्री पुरुषभाव प्राप्त करती है इस कारण अपने श्रम मान कर कहती है। अथवा—वहाँ परिश्रान्ता होकर भी अपरिश्रान्ता जिन से वे। जैसा कि कहा है—"तासामतिविहारेण" इत्यादि श्लोक में। "तत्कररुहस्पर्शप्रमोदा" इत्यादि। "ताभिर्युतः श्रममपोहितुं श्रान्तो वाऽविशत्" इत्यादि। यद्यपि नायकश्रम नायिका का वाञ्छनीय नहीं तो भी वे श्रीकृष्ण हैं अतिमोहन हैं, सुखद हैं इस अभिप्राय से श्रम निरूपित है। जैसा कि कहा है—"उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनामुन्नयन्" इत्यादि। अर्थात्—

जहाँ श्रममात्र में ऐसा है तो उस प्रकार श्रम में कहना ही क्या है। रसिकता में अनेक अर्थ निकलते हैं। श्रमकार्य्य कहती हैं—"स्वेदाङ्कुरचिताननः" नाम से। प्रस्वेद के अङ्कुर अर्थात् सूक्ष्मजलकणों से व्याप्त आनन जिन का वे। उस समय मुखारबिन्द का ही दर्शन हुआ, उस में पुनः मनोहर श्रमकण उत्पन्न के कारण मुखकमल कहा गया। मुक्ताफलों की भाँति वे अत्यन्त शोभा प्राप्त हो रहे हैं। अङ्कुर उक्ति के द्वारा क्षण काल के बाद वे किञ्चित् पुष्ट होते है ऐसा सूचित है। उस प्रकार के आनन गोपियों का जिस से ऐसा अर्थ भी है। अब क्रम से रतान्तसामयिक प्राणनाथ का निरूपण करती है—"गोपिकाङ्कालसः" इस पद से। गोपिका के अङ्क में अलस अर्थात् निष्पन्द रूप से क्षणमात्र स्थित। "निसर्गता

से ही सुख है" इस न्याय से यहाँ सुखातिशय का व्यक्त होताहै। अथवा-पूवनाम से रतान्त कह कर पश्चाद् बहि:उपवेशन स्थान में समागत होकर गोपिका-गोद में उपविष्ट हुए । "गोपिकाङ्कालस" इस नाम से ऐसा कहा गया है । अथवा—उरवो अर्थात् अङ्क वे जिस प्रकार शिथिलगतिवाले होते हैं उस प्रकार श्रीकृष्ण भी हैं, इसी लिये "गोपिकाङ्कवत्" कहा है । इस से वे बलात् प्राणनाथ को अपने गोद में बैठा कर अपने घर पर एकान्त स्थल में लेकर अभ्यङ्गादिक करती है यह सूचित होता है । अनन्तर श्रमापगम का कथन करती है—"श्रीमन्मलयानिलसेवित:" इस पद से । श्रीमान् जो मलयसम्बन्धि अनिल है उस से सेवित ऐसा अर्थ है। सेवन शब्द से मान्द्यता, मलय-सम्बन्ध से सौरभ्यता, श्रीमत् पद से शैत्यता सूचित हैं। श्री लक्ष्मी है तद्विशिष्ट ऐसा अर्थ है। यमुना के सूक्ष्म जल कण धारण करना जिस का परम धन है। अत: उस प्रकार श्रम में उस का अलौकिक सामर्थ्य सूचित होता है। अथवा-यहाँ लक्ष्मी अवसर प्राप्त कर "व्यजनादि करना मेरा उपयोग है" ऐसा मान कर वृक्षान्तर में छिप कर भय व लज्जा से अपने को गोपन करती देखने लगती। वहाँ भी अपने को अनुपयोग देखती हुई दक्षिण दिशा में ठहरती है, उस समय मलयानिल आकर उस के मुखामोद विशेष का ग्रहण करता है जिस से वह श्रीमान् होता है इसी लिये "श्रीमद्" ऐसा प्रयोग हुआ है । भागवत में कहा है-"लक्ष्मीनिरन्तर आश्रय करती है" । अत एव श्रीकृष्ण गोपिकाङ्कस्थिति के द्वारा लक्ष्मी के प्रति अपने गोपिकावश्यत्व ज्ञात कराते हैं। यहाँ अधिक विस्तार नहीं किया जा रहा है। राधिका के द्वारा कथित इन नामोक्ति समानकाल में श्रीकृष्ण प्रकट हुए ऐसा जानना। अत: उस समय श्रीकृष्ण की अतिशय शोभा देख कर "श्रीमत्" ऐसा कहा है। पूर्वानुसन्धान से त्वरागमनवश एक, दो, तीन श्रमकण देख कर मलयानिलसेवित

ऐसा कहा है। यहाँ कर्मधारय समास जानना ॥३४॥

अत एव फल भी उत्पन्न हुआ है इस का ज्ञापनार्थ फलश्रुति कहती है—"इत्येवं प्राणनाथस्य" इत्यादि। समाप्ति में इति शब्द है। एवम्भूत अर्थात् पूर्वोक्तरूप जो प्रेमरूप अमृतरस है उस का अयन अर्थात् स्थान ऐसा अर्थ है। अथवा-प्रेमसम्बन्धी अमृतरूप जो रसायन अर्थात् प्रेमकृतव्यथा में व्यथानिवृत्त्युपायभूत महौषधि है। अमृतशब्द से अनुभवदशा में सुखद है अन्य की भाँति दुःखद नहीं है ऐसा सूचित है। इस से उक्ति में हेतु कहा गया है। भगवन्निष्ठ हेतु कहती है—"प्राणनाथस्य" इत्यादि पद से। प्राणों के वे ही नाथ हैं अर्थात् रक्षकत्वादि सवधर्म्मवान् हैं। प्राणरक्षा के लिये ही यह निरूपित हुआ है ऐसा सूचित है। अथवा—प्राणनाथ के पूर्वोक्त प्रेमरूप ऐसा अर्थ है। अन्तःस्थित प्रेम ही इस रूप से प्रकटित है ऐसा हार्द है। उस का विशेषण अमृत शब्द है। अमृत का अर्थात् रसों का जो अयन अर्थात् स्थान है ऐसा अर्थ है। विषय कह कर विधेय कहते हुए फल कहती है "यः पठेदिति" पदों से। सामान्योक्ति से यहाँ वर्णादि नियम नहीं है ऐसा सूचित किया जाता है। वा शब्द अनादर में है। उस से श्रवण हों, कीर्त्तन हों अथवा स्मरण हों किन्तु एतन्निष्ठत्व की अपेक्षा अवश्य रहती है। अपि शब्द से समुच्चय में तथात्व का सूचित है। वह प्रेमरूपत्व के कारण प्रेम्णि अर्थात् भगवत्प्रेम में प्रकर्षतया संमिलित होता है। प्रेमवान् होता है ऐसा अर्थ है। पुल्लिङ्गनिर्देश स्वातन्त्र्यपरक है। उस से स्त्रियों के भी प्रेम होता है। उस उत्कट प्रेम का उदय होने पर क्षणकाल भी विरह सहन नहीं करता है। जिस प्रकार गोपियाँ है। वह फल किन्तु अविनाशी है तो कहती है—"ध्रुवं" इस पद से। ध्रुवशब्द क्रिया-विशेषण वाची है। यह सत्य है इस में कोई सन्देह नहीं है ऐसा भावार्थ है ॥३५॥

ब्रजवधूओं के प्रसाद श्रीयुक्त निज हृदय में यह सर्वस्व प्रणयिरसिकों के अत्यन्त प्रमोद के लिये अपने प्रयत्न से प्रकट हुआ है। जो निरन्तर शीघ्रता से प्रियतम ब्रजस्त्रीसौभाग्य का मुझ में विशेषतया प्रदान करें ॥१॥

यद्यपि अतिगोप्य के कारण इस महद् औषध का प्रकाशन करना अनुचित है तो भी अनुपान आश्रित के कारण प्रकाश रूप हुआ ॥२॥

मेरी प्रार्थना यह है कि रसिकजन स्वच्छन्दतया अहर्निश इसका अवलोकन करें परन्तु इस रस के अनभिज्ञ वैष्णव न देखें ॥३॥

इति वृन्दावनसागरचन्द्रमा के दास्यार्थी विट्ठल ने प्रेमामृत
औषध का यह अनुपान प्रस्तुत किया है ॥४॥

इति कुसुमसरोवर निवासी कृष्णदास के द्वारा श्रीविट्ठलेश्वर-
विरचित प्रेमामृतविवरण का अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।



चेतोदर्पणमार्ज्जनं भवमहा-दावाग्नि-निर्व्वापनं
श्रेयः कैरवचन्द्रिका-वितरणं विद्यावधू-जीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्त्तनम् ॥ १ ॥
नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः ।
एतादृशि तव कृपा भगवन्ममापि,
दुर्द्दैवमिदृशमिहाजनि नानुरागः ॥ २ ॥
तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः ॥ ३ ॥
न धनं न जन न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये ।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥४॥

जो मानस-दपण की मलिनता को दूर करता है तथा जो संसार रूप दावाग्नि का निवारक है, जो मगल रूप कैरवचन्द्रिका (श्वेतपद्म की शुभ्रज्योत्सा) को वितरण करता है तथा विद्या (परा) रूप वधू का जो जीवन स्वरूप है, जिसके श्रवण से आनन्द सागर की बृद्धि होती है तथा जिसके पद पद में परिपूर्ण अमृत का आस्वादन होता है उस सर्व आत्मा स्निग्धकारी श्रीकृष्ण-नाम-संकीर्त्तन की सर्वोपरि जय हो ॥ १ ॥

हे भगवन् ! आपकी इस प्रकार की करुणा है कि आपने आपके नाम समूह में अपनी समस्त शक्ति अर्पण कर दी है और वह नाम समूह के स्मरणादि करने के विषय में कोई देश, काल, नियम नहीं रखा है, परन्तु मेरा ऐसा दुर्द्दैव है कि उन नामों में अनुराग नहीं हो रहा है ॥२

अब जिस प्रकार नाम ग्रहण करने से प्रेम-प्राप्ति होती है उसे कहते हैं—तृण से भी नीच, (नम्रता), वृक्ष से भी सहनकारी होकर निरभिमान से दूसरे को मान देते हुए सदा हरिकीर्त्तन करें ॥३॥

अब श्रीमन्महाप्रभु आपने को भक्तावेश में कहते हैं-हे जगदीश! मैं धन,

अयि नन्दतनूज ! किङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ ।
कृपया तव पादपङ्कजस्थित-धूलि-सदृशं विचिन्तय ॥५॥
नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा ।
पुलकैर्निचित वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति ॥६॥
युगायितं निमिषेण चक्षुषा प्रावृषायितम् ।
शून्यायितं जगत् सर्व्वं गोविन्द-विरहेण मे ॥७॥
आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु, मामदर्शनान्मर्म्महतां करोतु वा ।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो, मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥८॥

॥ इति श्रीगौरचन्द्रमुखपद्मविनिर्गतशिक्षाष्टकं सम्पूर्णम् ॥

जन, सुन्दरी, कविता की कामना नहीं करता हूँ, किन्तु आपसे यह प्रार्थना करता हूँ कि जन्म जन्म आप में मेरी अहैतुकी भक्ति हो ॥४॥

हे नन्दनन्दन ! विषम भवसागर में निमग्न मुझे अपना पादपद्म स्थित रजः कणिका के समान दास्यरूप से ग्रहण कीजिये । यह भी प्रभु की दैन्योक्ति है ॥५।

हे प्रभो ! कब तुम्हारे नाम ग्रहण करने में मेरी ऐसी दशा होगी कि—विगलित अश्रुधाराओं से नयन युगल भर जायगा तथा गद्गद् वाणी से वदन रुक जायगा और पुलकावली से सर्व शरीर खचित (युक्त) हो जायगा । यह भी दैन्योक्ति है ॥६॥

अब प्रभु विरह भाव से कहते हैं:—श्रीगोविन्द के विरह में मेरे लिये निमेषकाल युग की तरह हो रहा है, नयनों से वर्षाकालीन वारिधारा समान निरन्तर अश्रुधारा बह रही है और समस्त जगत् शून्यमय हो रहा है ॥७।

अब श्रीमन्महाप्रभु किशोरी-भावाविष्ट में अपने को कहते हैं—हे सखि ! वे हरि मुझे आलिंगन प्रदान कर चरणरत किंकरी करें व अत्यन्त दुःख देकर पीश डारें किम्बा अदर्शन से मर्म्माहत करें अथवा लम्पट होकर जहाँ तहाँ विलास करें किंतु वे मेरे ही एक मात्र प्राणनाथ ही हैं अपर कोई नहीं हैं ॥८॥